

# ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

लेखक,

डॉ० संजय कुमार तिवारी,  
पी-एच०डी० (यू०जी०सी० नेट)  
पूर्व मानदेय-प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र विभाग,  
दी०द०उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ०प्र०)  
प्राचार्य, दीप नारायण यादव डिग्री कालेज,  
जगदीशपुर भलुवान, गोरखपुर (उ०प्र०)

Rs. 225/-

ISBN: **978-1-365-10874-7**

First Edition: New Delhi, 2011

Copyright 2011, डॉ० संजय कुमार तिवारी

All rights reserved

Published and Printed by **ISARA PUBLICATIONS**

B-11, Vikas Puri, New Delhi 110018

स्यात्  
"ईश्वर"  
को  
सादर  
समर्पित!



### प्राक्कथन

दार्शनिक चिन्तन के प्रारम्भ से ही ईश्वर का अस्तित्व विवाद का एक विषय रहा है। एक ओर हम यह देखते हैं कि विभिन्न युक्तियों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने की चेष्टा की गयी है, तो दूसरी ओर हम यह पाते हैं कि उन युक्तियों का खण्डन करके या तो ईश्वर को आस्था का विषय बना दिया गया अथवा अनेक अन्य युक्तियों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का ही खण्डन किया गया। विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि आस्था तथा धर्म सम्बन्धी आवश्यकताओं को छोड़ दें तो शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से मनुष्य के लिए ईश्वर के होने अथवा न होने का क्या अर्थ है ? इतना तो सुनिश्चित है कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित अथवा अप्रमाणित करना मात्र बौद्धिक व्यायाम नहीं है। ईश्वर में विश्वास करने वाले अथवा अविश्वास करने वाले दोनों प्रकार के दार्शनिक यह मानते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व के साथ अथवा ईश्वर के अस्तित्व के बिना जीवन जीने का एक महत्वपूर्ण अर्थ होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्हीं कतिपय अर्थों का निरूपण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है।

ईश्वरवादी दार्शनिकों के लिए ईश्वर के अस्तित्व का सबसे मुख्य अर्थ यह है कि ईश्वर की सत्ता में उन्हें एक ऐसा मानक मिल जाता है जिसके अनुरूप वे अपने जीवन का अर्थ निर्धारित कर सकते हैं और क्योंकि ईश्वर के सत्ता के रूप में यह मानक पूर्व निर्धारित रूप से प्राप्त हो जाता है, इसलिए न तो उन्हें मानक की तलाश के लिए कोई प्रयत्न करना पड़ता है और न ही उस मानक की वैधता के सन्दर्भ में उनके मन में किसी प्रकार की दुविधा होती है। संक्षेप में ईश्वरवादियों के लिए एक बार ईश्वर के अस्तित्व को मान लेने के बाद जीवन जीना अत्यन्त आसान हो जाता है। पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के इतिहास में इस विचारधारा की एक लम्बी परम्परा है। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ पर लाइबनिट्ज के दर्शन का उदाहरण ले सकते हैं। लाइबनिट्ज का यह विश्वास था कि यह जगत् सर्वोत्तम जगत् है क्योंकि यह ईश्वर की कृति है। ईश्वर ने जब संसार की रचना की तो उसी के साथ उसने संसार के नियमों को भी निर्धारित कर दिया। पूर्वस्थापित—सामंजस्य का यही अर्थ है। प्रत्येक चिद्—बिन्दु अर्थात् मनुष्य ईश्वर द्वारा पूर्वस्थापित नियमों के अनुसार कार्य करता है और इसलिए संसार में जो भी शुभ, सुन्दर और उदात्त है वह सब ईश्वर के विधान के नाते ही है। मनुष्य तो केवल उसी विधान का अनुसरण करता है। इसी प्रकार लाइबनिट्ज के दर्शन से महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर भिन्न होते हुए भी हेगेल के दर्शन में भी हम एक प्रागनुभविक द्वन्द्व न्याय पाते हैं और सम्पूर्ण

## 2 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

मानव जीवन उसी द्वन्द्व न्याय की एक अभिव्यक्ति मात्र है। इन दोनों दार्शनिक व्यवस्थाओं में स्वतः व्यक्ति के लिये किसी प्रकार के पहल करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि उसके सारे क्रिया-कलाप एक प्रागनुभविक तथा तार्किक नियम के द्वारा निर्धारित होते हैं।

किन्तु उपर्युक्त ही ईश्वरीय आस्था का एकमात्र प्रारूप नहीं है। ईश्वरवाद के अनेक प्रारूप दर्शन के इतिहास में उपलब्ध हैं। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए यहाँ हम दो प्रारूपों की चर्चा कर सकते हैं। प्रथम भारतीय परिप्रेक्ष्य में भगवद्गीता के ईश्वरवाद का एवं द्वितीय पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में किर्केगार्ड के ईश्वरवाद का। इन दोनों विचारधाराओं में ईश्वर के प्रति आस्था को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है, किन्तु इस आस्था के अर्थ अलग-अलग हैं। भगवद्गीता के अनुसार धार्मिक जीवन जीने वाले व्यक्ति को स्वयं ईश्वर से यह आश्वासन प्राप्त है कि 'मेरे भक्त को कभी भी कष्ट नहीं हो सकता' इस आश्वासन के नाते भगवद्गीता का धार्मिक व्यक्ति अपने उद्देश्य की सफलता के प्रति पूरी तरह आशावान है। वस्तुतः भगवद्गीता में भक्त एवं भगवान के बीच कोई आत्यंतिक भेद है ही नहीं। इसलिए भगवान को प्राप्त करने का अर्थ आत्म-साक्षात्कार है। यह आत्म-साक्षात्कार ज्ञान, कर्म अथवा भक्ति में से किन्हीं मार्गों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

इसके विपरीत किर्केगार्ड के दर्शन में धार्मिक जीवन 'भय तथा कम्पन' से युक्त होता है। इसका कारण यह है कि धार्मिक व्यक्ति अपने उद्देश्य की सफलता के प्रति आशावान नहीं हो सकता। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत चुनाव के द्वारा आस्था के जीवन का वरण करता है, उसका यह वरण एक 'अस्तित्वपरक-छलांग' है। इस छलांग में मनुष्य का जीवन किस बिन्दु पर जायेगा और उसकी क्या स्थिति होगी इसका कोई पूर्व निर्धारण नहीं हो सकता। इस प्रकार जहाँ भगवद्गीता में ईश्वर के अस्तित्व के प्रति आस्था मनुष्य के जीवन को न केवल अर्थ देती है बल्कि उस अर्थ की प्राप्ति का आश्वासन भी देती है वहीं किर्केगार्ड के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य को धार्मिक जीवन जीने के लिए आमंत्रित तो करता है, किन्तु उस जीवन की सफलता के प्रति कोई आश्वासन नहीं देता।

ईश्वर के अस्तित्व को न मानने वाले दार्शनिकों के लिये ईश्वर के न होने का एक ही अर्थ नहीं होता। इस सम्बन्ध में हमने दो प्रतिक्रियाओं का विशेष रूप से अध्ययन एवं मूल्यांकन करने का प्रयास किया है।

वे दार्शनिक जो कि विज्ञान से प्रभावित हैं तथा यह मानते हैं कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों को न मानने के कारण तथा ईश्वर की रहस्यात्मक सत्ता को मानने के कारण ज्ञान, नैतिकता तथा अन्य मानवीय व्यवहारों तथा संस्थाओं की व्याख्या करने में कठिनाई होती है और यदि ईश्वर को अस्वीकार करके केवल विज्ञानसम्मत सिद्धान्तों के आधार पर मानव जीवन

के विभिन्न क्रिया-कलापों, लक्ष्यों एवं आदर्शों की कल्पना की जाय तो सब कुछ अत्यन्त स्पष्ट ढंग से किया जा सकता है। संक्षेप में ईश्वर को मान लेने से सहज रूप से मानवीय जीवन जीना कठिन हो जाता है और ईश्वर को अस्वीकार करने से वह अत्यन्त सरल हो जाता है।

विकासवादी-विज्ञानवादी विचारधारा से प्रेरित दार्शनिकों की मान्यता यह है कि ईश्वर की सत्ता मान लेने से मनुष्य के जीवन के सभी पक्ष उदाहरणार्थ-ज्ञान का स्वरूप, नैतिकता का स्वरूप, मानव जीवन के अर्थ एवं प्रयोजन इत्यादि स्वयं मनुष्य के लिए रहस्यमय हो जाते हैं। वे सब ईश्वरीय नियम से संचालित होते हैं और मनुष्य के लिए ईश्वरीय नियम को समझ पाना असंभव है। इस प्रकार का विश्वास जड़ता, मताग्रह तथा अंधविश्वास को जन्म देता है एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा मानव प्रगति में बाधा उत्पन्न करता है। इसलिए यदि मनुष्य को वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग पर चलना है तो उसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास का परित्याग करना चाहिए। वस्तुतः यह विश्वास न तो विज्ञानसम्मत है और न ही विज्ञान को प्रश्रय देता है। वैज्ञानिक ज्ञान में सब कुछ पारदर्शी होता है, इसलिए उसमें जड़ता और अंधविश्वास की सारी संभावनायें समाप्त हो जाती हैं। वैज्ञानिक सत्य सार्वभौम होता है, इसलिए वैज्ञानिक सत्य पर आधारित समाज में शोषण की संभावना भी नहीं रह जाती क्योंकि ज्ञान के ऊपर किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का विशेषाधिकार नहीं होता। एम0एन0 राय जैसे मार्क्सवादी-मानववादी विचारकों के लिए ईश्वर के न होने का अर्थ यही है।

इसके विपरीत सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी-मानववादी दार्शनिक के लिये ईश्वर के न होने का अर्थ कुछ दूसरा ही है। उसके अनुसार ईश्वर के न होने का अर्थ यह है कि मनुष्य सम्पूर्ण रूप से अपने जीवन तथा उससे सम्बद्ध समस्त मूल्यों एवं आदर्शों के लिए उत्तरदायी हो जाता है। सार्त्र कहता है कि ऐसा जीवन सरल और सहज न होकर अत्यन्त कठिन और असहज होता है, क्योंकि सामान्यतया अपने उत्तरदायित्वों को ईमानदारी से स्वीकार करना मनुष्य के लिए संभव नहीं होता है।

सार्त्र के अनुसार-ईश्वर के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि यह प्रश्न कि मानव जीवन के लिए ईश्वर का अस्तित्व प्रांसगिक है अथवा नहीं। सार्त्र की मान्यता है कि यदि ईश्वर की सत्ता होगी तो भी वह मानव जीवन का नियंत्रण नहीं कर सकती क्योंकि मनुष्य एक चेतन सत्ता है जिस पर स्वयं उसी का अधिकार है। जिस प्रकार एक ग्रंथ के लेखक का ग्रंथ को लिख देने के बाद ग्रंथ के अर्थ पर उसका अधिकार नहीं रह जाता उसी प्रकार यदि मान भी लिया जाय कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है तो भी ईश्वर का मनुष्य के जीवन के अर्थ पर कोई अधिकार नहीं रह जाता। स्वयं मनुष्य अपने जीवन का अर्थ

## 4 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

निर्धारित करता है। सार्त्र के अनुसार—ईश्वर के न होने का यही महत्वपूर्ण अर्थ है।

यह स्थिति जहाँ एक ओर मनुष्य को उसकी अपनी गरिमा का बोध कराती है वहीं यह बोध भी कराती है कि स्वयं मनुष्य ही अपने समस्त कार्यों के प्रति उत्तरदायी है। यह विचार मनुष्य को संसार में कष्टों तथा संकटों का सामना करते हुए अपने सभी प्रश्नों एवं समस्याओं का समाधान प्राकृतिक नियमों एवं सामाजिक सहयोग से स्वयं ही करने हेतु सुदृढ़ साहस एवं अभिप्रेरणा प्रदान करता है और उसे पराश्रित रहने की घातक मनोवृत्ति से बचाता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में उपर्युक्त प्रतिक्रियाओं का विस्तृत अध्ययन करने के साथ-साथ इनकी सापेक्षित योग्यताओं को निर्धारित करने की चेष्टा की गयी है, और इसी के साथ-साथ इस बिन्दु पर भी विचार किया गया है कि ईश्वर के अस्तित्व के प्रति मनुष्य की क्या समीचीन दृष्टि होनी चाहिये। नीत्से ने ईश्वर की मृत्यु की घोषणा की थी और आज उत्तर आधुनिक संस्कृति "मनुष्य" के मृत्यु की घोषणा करके मानव जीवन में सभी प्रकार के मानकी-करण का निषेध कर रही है। इस परिप्रेक्ष्य में यह विचार करना अत्यन्त प्रासंगिक है कि क्या सभी प्रकार के मानकों का निषेध करके हम किसी सार्थक मानव जीवन की कल्पना कर सकते हैं ? हमारा विश्वास है कि इस ग्रन्थ के द्वारा हम इस प्रश्न का उत्तर पाने की दिशा में कम से कम एक सार्थक प्रारम्भ कर सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पूर्ण होने में मुझे अनेक स्रोतों से प्रेरणा, सहयोग एवं सहायता प्राप्त हुई जिनके अभाव में इसका प्रणयन् कर पाना मेरे लिए सम्भव नहीं होता। अतः उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना न केवल मेरा पुनीत कर्त्तव्य है बल्कि मेरे लिए सुखद भी है।

सर्वप्रथम मैं परम् श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव डॉ० सभाजीत मिश्र, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग एवं पूर्व प्रतिकुलपति, दी०द०उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय एवं मातृतुल्य श्रद्धेया गुरुपत्नी श्रीमती कलावती मिश्रा के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। जिन्होंने न केवल पितृवत् एवं मातृवत् स्नेह दिया अपितु मेरे लिए सदैव ही प्रेरणास्रोत बनकर मेरा अमूल्य मार्गदर्शन किया।

मेरे परम् श्रद्धेय पूजनीय बाबा जी स्व० पं० श्यामदेव तिवारी की यह अभिलाषा थी कि मैं शिक्षा के उच्चतम सोपान को प्राप्त करूँ। उनकी यह अभीप्सा तथा उनका आध्यात्मिक व्यक्तित्व ही मेरे यहाँ तक पहुँचने में प्रेरणा स्रोत का कार्य करती रही है और आगे भी करती रहेगी। ऐसे परम् पूजनीय स्व० बाबा जी को श्रद्धाँजलि अर्पित करते हुए मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

विभिन्न समस्याओं का सामना करते हुए भी पूज्यवरण मेरे पिताजी आचार्य पशुपति नाथ तिवारी एवं पूजनीया माताजी श्रीमती कालिन्दी देवी ने जिस त्याग और धैर्य के साथ मुझे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्मुक्त रखा है तथा मेरा कार्य निर्विघ्न रूप से पूर्ण हो सके इसके लिए;



अनेक प्रकार के कष्टों को झेलते हुए, जिसका उन्होंने मुझे आभास तक नहीं होने दिया; उपयुक्त वातावरण उपलब्ध कराया है। ऐसे माता-पिता के प्रति मैं किन शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापित करूँ ? इनकी महत्ता के सम्बन्ध में कुछ कह पाने में मेरी वाणी एवं शब्द समर्थ नहीं है। ईश्वर मुझे ऐसी शक्ति दे जिससे मैं अपने माता-पिता के विश्वास को कायम रख सकूँ एवं उनके सपने को साकार कर सकूँ। यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है।

ग्रन्थ के प्रणयन् में मेरी धर्मपत्नी श्रीमती अनीता तिवारी तथा पुत्र शाश्वत तिवारी ने जिस धैर्य एवं त्याग का परिचय देते हुए मुझे पारिवारिक दायित्वों से मुक्त रखकर लेखन कार्य हेतु पर्याप्त समय एवं सहयोग प्रदान किया; ऐसे अमूल्य योगदान के लिए मैं उनके प्रति आजीवन हृदय से आभारी हूँ।

मैं श्रद्धेय प्रो० महेश्वर मिश्र, पूर्व अध्यक्ष भौतिकी एवं पूर्व संकायाध्यक्ष विज्ञान संकाय, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, प्रो० एस०एन० चतुर्वेदी, पूर्व अध्यक्ष एवं अधिष्ठाता, वाणिज्य संकाय, दी०द०उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति श्रद्धावन्त हूँ। जिनका बहुमूल्य सहयोग, स्नेह एवं आशीष मुझे समय-समय पर प्राप्त होता रहा है।

मैं अग्रज डॉ० शम्भू नाथ तिवारी, भाभी डॉ० (श्रीमती) नन्दिनी तिवारी तथा प्रो० डी०एन० यादव, प्रो० ऋषिकान्त पाण्डेय के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। जिनसे हमें लेखन कार्य के दौरान सदैव सहयोग, सुझाव एवं प्रोत्साहन मिलता रहा है।

मात्र औपचारिकता का निर्वाह न करते हुए अपने अनुजों डॉ० वेंकटेश्वर तिवारी (युवा वैज्ञानिक), डॉ० विजय कुमार तिवारी, डा० धनंजय कुमार तिवारी एवं एडवोकेट अजय कुमार तिवारी तथा अपने अभिन्न मित्र श्री सूर्य नाराण मिश्र के अमूल्य सुझाव एवं सहयोग, बौद्धिक वार्तालाप के माध्यम से ग्रंथ के प्रणयन् में सहायता तथा ग्रंथ की पाण्डुलिपि एवं इसके प्रूपस की अशुद्धियों को सुधारने के लिए किये गये कठिन कार्यादि जैसे महत्वपूर्ण योगदान के लिए मैं इन सबका आजीवन ऋणी हूँ।

यहाँ सभी पारिवारिक सदस्यों, मित्रों, शुभचिन्तकों एवं विद्वानों आदि का नामोल्लेख कर पाना सम्भव नहीं है। अतः मैं उन सभी के प्रति जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ग्रंथ के लेखन में मेरा सहयोग एवं उत्साहवर्द्धन किया है, हृदय से आभारी हूँ।

प्रस्तुत ग्रंथ को पूर्ण करने में मुझे दी०द०उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के विभागीय एवं केन्द्रीय ग्रंथालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के केन्द्रीय ग्रंथालय एवं भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद लखनऊ स्थित पुस्तकालय का सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं पुस्तकालयों के सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

ग्रंथ को पूर्ण करने में मैंने बहुत से भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों और उनके लेखों से पर्याप्त सहायता प्राप्त की है जिसके बिना यह कठिन कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था। जिनका उल्लेख मैंने ग्रंथ में यथा स्थान किया है। मैं उन सभी विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

## 6 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

कोई भी मानवीय कृति कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती। इसलिए प्रस्तुत कृति में भी त्रुटि होना स्वाभाविक है, जिसके लिए मैं सभी विद्वानों अध्येताओं और विद्यार्थियों से उनके सुझावों को सादर आमंत्रित करता हूँ।

अन्त में मैं ग्रंथ के प्रकाशक के प्रति भी अपना हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अथक परिश्रम से यथोचित समय में प्रकाशन का कार्य सम्पन्न किया।

वसन्त पंचमी

दिनांक 08 फरवरी, 2011

डॉ० संजय कुमार तिवारी

ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद | 7  
अध्याय सूची

प्राक्कथन	1.6
अध्याय-1 : ईश्वर की अवधारणा एवं उसके अस्तित्व के लिए प्रमाण	01
(क) प्रत्यय-सत्ता मूलक प्रमाण	15
(ख) सृष्टि मूलक प्रमाण	20
(ग) प्रयोजन मूलक प्रमाण	26
(घ) नीतिपरक प्रमाण	31
(ङ) धार्मिक अनुभूति सम्बन्धी प्रमाण	37
अध्याय-2 : ईश्वरवाद के निहितार्थ	45
(क) ज्ञानमीमांसीय निहितार्थ	47
(ख) नैतिक एवं समाजशास्त्रीय निहितार्थ	55
अध्याय-3 : विज्ञानसम्मत अनीश्वरवाद तथा उसके निहितार्थ	63
(क) विकासवादी व्याख्या . चार्ल्स डार्विन	64
(ख) मार्क्सवादी-मानववादी व्याख्या	74
(1) मार्क्सवादी व्याख्या	74
(2) मानववादी व्याख्या : एम0 एन0 रॉय :	83
अध्याय-4 : अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद	93
(क) हाइडेगर	94
(ख) ज्यॉ-पाल सार्त्र	105
अध्याय-5 : भारतीय दर्शन में अनीश्वरवाद	119
वेद	122
उपनिषद्	125
चार्वाक दर्शन	127

## 8 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

जैनदर्शन

131

बौद्ध दर्शन

138

मीमांसा दर्शन

151

अध्याय -6 : ईश्वर की प्रासंगिकता

165

सन्दर्भ ग्रन्थ - सूची

176

## अध्याय—1 : ईश्वर की अवधारणा एवं उसके अस्तित्व के लिए प्रमाण

- (क) प्रत्यय—सत्ता मूलक प्रमाण
- (ख) सृष्टि मूलक प्रमाण
- (ग) प्रयोजन मूलक प्रमाण
- (घ) नीतिपरक प्रमाण
- (ङ.) धार्मिक अनुभूति सम्बन्धी प्रमाण

## 2 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

## ईश्वर की अवधारणा एवं उसके अस्तित्व के लिए प्रमाण

इस प्रस्तुत ग्रंथ का विषय एवं उद्देश्य ईश्वरवाद एवं निरीश्वरवाद के निहितार्थों का विवेचन करना है। अतः निरीश्वरवाद के निहितार्थों का विश्लेषण करने से पूर्व ईश्वरवाद के सामान्य अर्थ तथा ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित तर्कों आदि का विवेचन करना आवश्यक है क्योंकि इसी के परिप्रेक्ष्य में अनीश्वरवाद के निहितार्थों को ठीक से समझा जा सकता है। इसी दृष्टि से वर्तमान अध्याय में हम सर्वप्रथम ईश्वर की सामान्य अवधारणा तथा उसके अस्तित्व हेतु दिये गये तर्कों की व्याख्या करेंगे।

आदिम काल से ही मनुष्य अपनी सहज जिज्ञासा के कारण विश्व के रहस्यों को समझने का प्रयत्न करता आ रहा है। इन रहस्यों को सुलझाने के लिए वह एक अलौकिक, नित्य पूर्ण, दिव्य एवं सर्वशक्तिमान सत्ता पर विश्वास भी करता है एवं इसी सत्ता को वह 'ईश्वर' के नाम से पुकारता है। ईश्वर क्या है ? उसके स्वरूप और गुण क्या है ? इस पर सतत् चिन्तन होता रहा है। धार्मिक व्यक्तियों के लिए तो ईश्वर स्वयं सिद्ध सत्ता है। उनकी मान्यता है कि मानवीय बुद्धि सीमित होने के कारण अनन्त एवं असीम ईश्वर का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती है। परन्तु दार्शनिक केवल आस्था और विश्वास पर नहीं चलता है। वह उस आस्था का विश्लेषण करता है तथा उसके लिए तार्किक आधार प्रस्तुत करता है। कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रमाण दिये हैं, वहीं उसकी सत्ता, स्वरूप तथा उसके कार्य एवं जीव तथा जगत् के साथ उसके सम्बन्धों को लेकर विविध आयामी चिन्तन पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शनों में हुआ है। परिणामस्वरूप अलग-अलग दर्शनों में हमें ईश्वर की अवधारणा के भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होते हैं।

केवल धर्म और दर्शन पर ही नहीं अपितु मनुष्य के सामान्य जीवन पर भी ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित विश्वास का बहुत गहरा तथा व्यापक प्रभाव रहा है। कुछ थोड़े से विचारकों अथवा दार्शनिकों को छोड़कर संसार के अधिकतर मनुष्य शताब्दियों से ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते रहते हैं और उस विश्वास ने उनके विचारों तथा आचरण को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। ऐसी स्थिति में धर्म पर विचार करने वाले दार्शनिक के लिए इस प्रश्न का विशेष महत्व है कि ईश्वर के अस्तित्व का ठीक-ठीक अर्थ क्या है ?

ईश्वर पर अगाध आस्था आज के भौतिकता सम्पन्न जीवन और विज्ञान की आश्चर्यजनक उपलब्धियों के बावजूद क्षीणतर होने की बजाय दृढ़ से दृढ़तर होती जा रही है। अंतरिक्ष विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान एवं विज्ञान की अन्य शाखाओं ने बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अभूतपूर्व

## 4 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

उन्नति की है। हृदय प्रत्यारोपण द्वारा जीवनदान अब एक सामान्य सी उपलब्धि हो गया है। मनुष्य ने क्लोन सिद्धान्त विकसित कर लिया है और वह जीवों के हू-ब-हू प्रतिरूप को बनाने में सफल हो चुका है। लेकिन इन सब उपलब्धियों के बावजूद ईश्वर पर से उसकी आस्था रंचमात्र भी कम नहीं हुई है। परन्तु ईश्वर पर इस अगाध आस्था के बावजूद मानव मस्तिष्क में एक जिज्ञासा उठती रहती है, एक प्रश्न उसे उद्वेलित करता ही रहता है और यह प्रश्न कभी दार्शनिक रूप धारण कर लेता है और कभी संसार में व्याप्त दुःख, कष्ट, पीड़ा, शोषण, अत्याचार से उत्पन्न क्षोभ एवं निराशा से उद्भूत होता है कि क्या सचमुच ईश्वर है, और है तो वह दुःख, पीड़ा, अन्याय-अत्याचार क्यों ? क्यों आततायी सुखी हैं और निर्बल दुःखी। इसलिए एक सनातन प्रश्न है क्या सचमुच ईश्वर जैसी सर्वशक्तिमान सत्ता है ? और यदि है तो उसका स्वरूप कैसा है ? ईश्वर कहाँ वास करता है ? और इसी तरह का एक प्रश्न यह भी है कि क्या ईश्वर के प्रति हमारी अगाध आस्था मात्र भावुकता या अंधविश्वास मात्र तो नहीं है ?

ईसाई दार्शनिक जॉन हेनरी न्यूमैन ने अपने धर्म सम्बन्धी आलेखों में परम सत्ता पर चर्चा करते हुए लिखा है कि ईश्वर अथवा गॉड को जानने के लिए हमें अपने समस्त अंतः शक्ति और अनुभवों पर विचार करना पड़ेगा। इस संदर्भ में न्यूमैन मानवीय विवेक का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं कि अनास्थावादी अपने ही विवेकानुभव के प्रमाण को अस्वीकार कर स्वयं अपना ही खण्डन करते हैं। वे अपनी संवेदनाओं और तर्क पर तो विश्वास करते हैं लेकिन अपने विवेक के अनुभव पर नहीं। वे प्रश्न करते हैं कि, यदि वे अपनी संवेदनाओं और तर्क पर विश्वास करते हैं तो अपने विवेक पर भी क्यों विश्वास नहीं करते ?<sup>1</sup>

न्यूमैन आगे लिखते हैं, "हमारी संवेदनाओं का अनुभव ही हमारा सम्पूर्ण अनुभव नहीं है। हमारा सारा ज्ञान किसी विश्वास पर आधारित है। जैसे हम अपनी अन्य अन्तःशक्तियों का विश्वास रखते हैं, उसी तरह हमें अपने विवेक और उसकी अनुभूतियों पर भी विश्वास रखना चाहिए। ज्ञात से हम अज्ञात को जानते हैं, जैसे छाया से हम जानते हैं कि सूर्य प्रकाशमान है। यह तथ्य कि हम कभी-कभी अपने विश्वास में धोखा खा जाते हैं अपनी अन्तःशक्तियों को पूर्णतः अविश्वसनीय मानने का कोई कारण नहीं है।"<sup>2</sup>

हम भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं के अस्तित्व की सार्थकता पूर्वक बात कर सकते हैं और करते हैं। किसी वस्तु के अस्तित्व की बात करने का तात्पर्य यही होता है कि वास्तव में वह वस्तु है अथवा वह वस्तु मात्र हमारे समक्ष या हमारे मन में उपस्थित है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ है, वास्तव में उसका विद्यमान होना। दार्शनिक दृष्टि से किसी वस्तु की सत्ता का भी लगभग यही अर्थ समझा जाता है, अतः 'अस्तित्व' और 'सत्ता' इन दोनों शब्दों को सामान्यतः पर्यायवाची शब्द



माना जा सकता है। तात्पर्यतः सार्थक रूप से हम केवल उसी वस्तु के अस्तित्व की बात कर सकते हैं जो प्रत्यक्ष अथवा कम से कम सिद्धान्तः हमारे अनुभव अथवा तर्कबुद्धि का विषय हो सकती है। यही बात काल्पनिक वस्तुओं के तथाकथित अस्तित्व के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जब हम किसी ऐसे वस्तु की कल्पना करते हैं जिसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है तो हमारी इस कल्पना का आधार भी हमारा अनुभव ही होता है। उदाहरणार्थ हम स्वर्णित पर्वत और उड़ने वाले घोड़े की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु हमारी इस कल्पना का आधार भी हमारा अनुभव ही है। इससे स्पष्ट है कि हमारे लिए किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करना सम्भव नहीं है जो हमारे अनुभव तथा हमारी तर्कबुद्धि से परे हो, ऐसी वस्तु की कल्पना करना हमारे लिए निराधार, निरर्थक तथा अवोधगम्य हो होगी।

ईश्वरवादी दार्शनिक तथा धर्म-परायण व्यक्ति ईश्वर को एक ऐसी स्वतंत्र एवं वस्तुपरक सत्ता मानते हैं जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अत्यंत दयालु, शाश्वत, अपरिवर्तनीय, असीम तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण है और जो विश्व का रचयिता या आदि कारण, शासक एवं संचालक है। हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, यहूदी धर्म आदि सभी धर्मों में थोड़े बहुत अन्तर के साथ प्रायः इसी रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। इसी रूप में ईश्वर उपासना या पूजा का विषय बनता है जो ईश्वरवादी धर्मों का अनिवार्य तत्व है। भक्त केवल इसी प्रकार की ईश्वर की पूजा करता है और अपने जीवन में सदा उसके अनुग्रह की आकांक्षा रखता है। सगुण तथा साकार ईश्वर की इस धारण को 'मानवत्वारोपी अवधारणा' कहा जा सकता है, क्योंकि इसके अनुसार ईश्वर को मानवाकारयुक्त माना जाता है और उसमें समस्त मानवीय सदगुणों को आरोपित किया जाता है। अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर की इसी मानवत्वारोपी अवधारणा को स्वीकार करते हुए उसकी पूजा या उपासना करते हैं। स्पष्ट है कि ईश्वरवादी धर्मों के लिए ईश्वर की इस अवधारणा का विशेष महत्व है परन्तु उक्त मानवत्वारोपी अवधारणा के अनुसार ईश्वर को सगुण और साकार सत्ता मानते हुए भी ईश्वरवादी दार्शनिक उसे मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे मानते हैं। उनका मत है कि मनुष्य न तो ईश्वर का अनुभव प्राप्त कर सकता है और न उसे अपनी तर्कबुद्धि द्वारा जान सकता है। इसी कारण ईश्वर अगम्य एवं अगोचर माना गया है। उसकी सत्ता मानवीय अनुभव तथा तर्कबुद्धि का विषय नहीं है और न हो सकती है। ईश्वर को तर्कबुद्धि तथा अनुभव द्वारा जानने का प्रयास करना पूर्णतः व्यर्थ है।

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरी अवधारणा तत्वमीमांसीय अवधारणा है। इस अवधारणा के समर्थक ईश्वर को महामानव न मानकर तत्वमीमांसी सत्ता मानते हैं। उनका विचार है कि ईश्वरीय गुणों के लिए 'शक्ति', 'ज्ञान', 'शुभत्व', 'प्रेम', 'दया' आदि जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है उनका अर्थ सामान्य मानवीय सन्दर्भों में प्रयुक्त इन शब्दों के

## 6 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

अर्थ से भिन्न रूपात्मक अथवा प्रतिकात्मक ही होता है। जब हम ईश्वर को पूज्यतः शुभ, शक्तिशाली, दयालु, प्रेममय आदि कहते हैं तो इन शब्दों का अर्थ वह नहीं होता जो किसी मनुष्य के लिए प्रयुक्त होने पर इनका अर्थ समझा जाता है। उदाहरणार्थ ईश्वर उस सामान्य अर्थ में प्रेम अथवा दया नहीं करता जिस अर्थ में कोई मनुष्य प्रेम या दया करता है। ईश्वर के सन्दर्भ में इन शब्दों तथा ऐसे ही अन्य सभी शब्दों का अर्थ केवल सादृश्य के आधार पर ही समझा जा सकता है। इसका कारण यह है कि ईश्वर कोई महान मनुष्य न होकर तत्त्वमीमांसी अभौतिक सत्ता है जिसके विषय में हम केवल रूपकों अथवा प्रतीकों के माध्यम से ही बात कर सकते हैं। अधिकतर ईश्वरवादी दार्शनिकों जैसे प्लेटो, अरस्तू, एक्वीनास, डीन मैन्सल, पॉल टिलिक आदि ने ईश्वर विषयक मानवत्वारीपी अवधारणा के स्थान पर इसी तत्त्वमीमांसीय अवधारणा को स्वीकार करते हैं।

परन्तु ईश्वरवादी दार्शनिकों की उपर्युक्त मान्यता के फलस्वरूप एक गम्भीर दार्शनिक समस्या उत्पन्न हो जाती है जिसका संतोषप्रद एवं तर्कसंगत समाधान असम्भव है। वह समस्या यह है कि यदि मनुष्य अपने तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर की सत्ता का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता तो हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है। ऐसी स्थिति में यदि ईश्वर को मानवीय अनुभव तथा तर्कबुद्धि से परे माना जाय तो हम सार्थकतापूर्वक उसके अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के बारे में कुछ भी स्पष्ट नहीं कर सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर को मानवीय अनुभव तथा तर्कबुद्धि से परे मानने पर हमारे लिए ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ भी कहना नितान्त निरर्थक और अबोधगम्य हो जाता है। स्पष्ट है कि यदि ईश्वरवादी दार्शनिकों की उपर्युक्त मान्यता उचित है तो ईश्वर के अस्तित्व के बारे में हमारे किसी कथन का वास्तव में कोई संज्ञानात्मक अर्थ रह ही नहीं जाता फिर चाहे वह कथन सकारात्मक हो या नकारात्मक। इसी आधार पर ए०जे० एयर जैसे तर्कीय प्रत्यक्षवादी ने ईश्वर विषयक कथनों के संज्ञानात्मक अर्थ को अस्वीकार किया है।<sup>3</sup>

अपने अध्ययन एवं विषय-परिधि की दृष्टि से यहाँ हम ग्रीक, मध्यकालीन तथा आधुनिक दर्शन परम्परा के कुछ प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिकों के ईश्वर सम्बन्धी मतों का अध्ययन करेंगे।

सामान्यतः प्राचीन यूनानी दर्शन को पश्चिमी दर्शन का मूल स्रोत माना जाता है। अनेक विद्वानों का मत है कि प्राचीन यूनानी दर्शन में ईश्वरवाद का विकास आरम्भ हो चुका था। उदाहरणार्थ यूनानी देवता 'जीअस' को विश्व पर शासन करने वाले उच्चतम देवता के रूप में स्वीकार किया जाता था। सुकरात पूर्व युग में ही जेनोफेन्स नामक दार्शनिक ने एक अजन्मा, अपरिवर्तनशील तथा समस्त वस्तुओं में अन्तर्निहित विश्व की आध्यात्मिक सत्ता का उल्लेख किया है। इसी प्रकार प्लेटो और अरस्तू के

दर्शन में भी एक अपरिवर्तनशील शाश्वत, पूर्णतः शुभ और विशुद्ध चैतन्य सत्ता के रूप में ईश्वर की अवधारणा विद्यमान है जिसे विश्व का मूल कारण माना गया है।<sup>4</sup> प्राचीन यूनानी दर्शन के पश्चात् ऐन्सेल्म, ऑगस्टाइन, ऐक्वीनास आदि दार्शनिकों ने ईश्वरवाद का प्रबल समर्थन किया है। इन सभी दार्शनिकों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए डेकार्ट, लाइबनिट्ज, वर्कले आदि परवर्ती दार्शनिकों ने भी विश्व की व्याख्या के लिए ईश्वरवाद को प्रमुख आधार बनाया है। इस प्रकार प्राचीन काल से आधुनिक युग तक अनेक महान पाश्चात्य दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में ईश्वर को स्वीकार किया है।

सम्भवतः यह कहना अनुचित न होगा कि पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर का सुव्यवस्थित विवेचन महान विचारक प्लेटो के दर्शन से आरम्भ होता है। प्लेटों ने 'थिएटेटस', 'टाइमिअस', 'फिडो', 'लॉज' आदि अपनी अनेक कृतियों में ईश्वर के स्वरूप और उसके अस्तित्व के लिए कुछ प्रमाणों का विवेचन किया है। योग दर्शन की भांति वे भी ईश्वर को उत्कृष्टतम आत्मा मानते हैं जो पूर्णतः शुभ है। उनके मतानुसार, यह ईश्वर ही विश्व का मूल कारण है जिसने सर्वोत्तम विश्व की रचना की है और इसमें व्यवस्था भी स्थापित की है। विश्व की समस्त वस्तुएँ अपने अस्तित्व और स्वरूप के लिए ईश्वर पर ही पूर्णतः निर्भर हैं। प्लेटो ने ईश्वर में शुभत्व, न्यायशीलता आदि नैतिक गुणों को विशेष महत्व दिया है। उनका मत है कि स्वयं पूर्णतः शुभ होने के कारण ईश्वर विश्व में शुभ का शासन स्थापित करता है और सभी मनुष्यों के प्रति पूर्ण रूप से न्याय करता है। उसने मनुष्यों के कल्याण के लिए ही इस विश्व की रचना की है। ईश्वर द्वारा रचित यह विश्व सर्वोत्तम है, क्योंकि पूर्णतः शुभ ईश्वर निकृष्ट विश्व की रचना कर ही नहीं सकता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्लेटो ईश्वर से संबंधित 'अशुभ की समस्या' की पूर्णतः उपेक्षा करते हैं जो प्राचीन काल से ईश्वर के लिए गम्भीर चुनौती बनी हुई है।

अपनी अन्तिम कृति 'लॉज' में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए प्लेटो ने जो प्रमाण दिया है उसमें कारण परक युक्ति तथा प्रयोजन परक युक्ति दोनों एक साथ सम्मिलित हैं। उनका कथन है कि कारणों की अनन्त श्रृंखला से बचने के लिए विश्व के एक ऐसे मूल कारण को मानना आवश्यक है जो स्वयंभू हैं—अर्थात् जिसका कोई कारण नहीं है और जो सबको गति प्रदान करता है। यह मूलकारण पूर्णतः शुभ ईश्वर हो सकता है। इसी प्रकार विश्व में विद्यमान व्यवस्था से यह सिद्ध होता है कि उसका रचयिता पूर्णतः बुद्धिमान ईश्वर है जिसने समस्त ग्रह-नक्षत्रों में व्यवस्था स्थापित की है। इस विश्व में सर्वत्र जो प्रयोजनशील नियम परिलक्षित होता है वह इसके रचयिता ईश्वर की पूर्णता को सिद्ध करता है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिकों की भांति प्लेटो ने भी कारणपरक

## 8 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

युक्ति तथा प्रयोजन परक युक्ति द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया।

अरस्तू का ईश्वर विषयक सिद्धान्त प्लेटो के ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त से बहुत भिन्न नहीं है। प्लेटों की भांति वे भी ईश्वर को विश्व का मूल कारण, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील सत्ता मानते हैं। उनके मतानुसार इस विश्व में जो गति है वह मूलतः ईश्वर द्वारा ही प्रदान की गई है। स्वयं अचल होते हुए भी ईश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गतिशील करता है। अतः वही समस्त ब्रह्माण्ड को गति प्रदान करने वाला स्थिर मूल तत्व है। गति के मूल कारण के रूप में ईश्वर को स्वीकार किये बिना हम विश्व में विद्यमान गति की व्याख्या नहीं कर सकते। मुख्यतः अपने इसी तर्क के आधार पर अरस्तू ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक माना है। उनका कथन है कि विश्व में पायी जाने वाली गति के कारणों की अनन्त श्रृंखला से बचने के लिए अचल, अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत ईश्वर को गति का मूल कारण मानना अनिवार्य है। यह स्थिर ईश्वर जो विश्व का प्रथम गतिदायक कारण है—सदा अपने सम्बन्ध में ही निरन्तर चिन्तन करता है—अर्थात्, उसके चिन्तन

का अन्य कोई विषय नहीं है। इस दृष्टि से ईश्वर विशुद्ध चैतन्य सत्ता है।<sup>5</sup>

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्लेटो के विपरीत अरस्तू ईश्वर के नैतिक गुणों को कोई विशेष महत्व नहीं देते। इसी कारण उन्होंने अपने दर्शन में कहीं भी ईश्वर को 'पूर्णतः शुभ' नहीं कहा है। उनका विचार है कि विशुद्ध बौद्धिक सत्ता होने के कारण ईश्वर का मानवीय नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि अनेक धर्मपरायण ईश्वरवादी विचारकों के विपरीत अरस्तू नैतिकता को ईश्वर पर आधारित

नहीं मानते।<sup>6</sup> उनके अनुसार विश्व के प्रथम गतिदायक कारण के रूप में ईश्वर मनुष्य के सुख—दुःख तथा उसकी आवश्यकताओं के प्रति पूर्णतः उदासीन है, अतः वह पूजा या उपासना से प्रभावित नहीं होता। ईश्वर के विषय में अरस्तू के इन्हीं विचारों के कारण अनेक विद्वानों ने उन्हें तटस्थेश्वरवाद का प्रवर्तक माना है। उदाहरणार्थ—इस संबंध में टेलर का कथन है, "जिस प्रकार प्लेटो दार्शनिक ईश्वरवाद के प्रवर्तक थे उसी प्रकार ईश्वर के विचार से सम्पूर्ण नैतिक तत्व का निष्कासन कर देने के कारण

अरस्तू को दार्शनिक तटस्थेश्वरवाद का प्रवर्तक कहा जा सकता है।"<sup>7</sup>

इसका अर्थ यह है कि अरस्तू का ईश्वर मनुष्य की उपासना या पूजा का विषय नहीं हो सकता। यही कारण है कि अनेक विचारक अरस्तू को वास्तविक अर्थ में ईश्वरवादी नहीं मानते। परन्तु फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि विश्व के मूल कारण के रूप में ईश्वर का प्रत्यय प्लेटों के दार्शन की भांति अरस्तू के दर्शन का भी प्रमुख तत्व है।

प्लॉटिनस अपनी ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ईश्वर सम्पूर्ण सत् का स्रोत है। ईश्वर समस्त अस्तित्व विरोध एवं भेद, मन तथा शरीर रूप और पुद्गल का आधार है—ईश्वर स्वयं अनेकता तथा विभिन्नता से रहित निरपेक्षतः एक हैं। वह समस्त उत्पन्न हुयी वस्तुओं का कारण है, पर स्वयं कारण रहित है। सब कुछ ईश्वर में है और सबका उद्भव ईश्वर से होता है। अनेकता का आधार ही एकता है जो ईश्वर है। एकता समस्त अस्तित्व की पूर्वगामी है। प्लॉटिनस की मान्यता है कि ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार के गुणों का आरोपण करना सम्भव नहीं क्योंकि जिसमें गुण विद्यमान है वह सीमित होता है। ईश्वर असीम निर्गुण है। अतः ईश्वर को सत्य शिव और सुन्दर कहना उसे सीमित बनाने के समान है। गुणों का अस्तित्व अपूर्णताओं का द्योतक है।

इस प्रकार प्लॉटिनस ईश्वर सम्बन्धी धारणा को अपने ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर 'यह है'—केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ईश्वर 'यह नहीं' है। उपनिषदों के ऋषियों के समान प्लॉटिनस ने 'नेति—नेति' के द्वारा ईश्वर का वर्णन किया। प्राणी मात्र के रूप में ईश्वर की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि प्राणी चिन्तनशील होता है। वह ध्येय और विधेय के साथ जुड़ा है। इसलिए वह सीमित बन जाता है। ईश्वर चिन्तक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि चिन्तन का विषय से सम्बन्ध होता है। ईश्वर का अपना कोई मन नहीं क्योंकि मन में चिन्तन होता है अतः यह कहना कि ईश्वर चिन्तनशील तथा संकल्पकर्ता है, दोषपूर्ण है। चिन्तन तथा संकल्प ईश्वर को सीमित बना देता है। साथ ही ईश्वर की निरपेक्ष स्वतंत्रता को आघात पहुँचता है। विचार से कर्ता और कर्म का द्वैत प्रकट होता है। जिसका ईश्वर में अभाव है।

पुनः प्लॉटिनस यह मानता है कि ईश्वर से ही सब कुछ प्रारम्भ होता है पर उसने जगत् की उत्पत्ति नहीं की क्योंकि सृष्टि का अर्थ है चैतन्य एवं संकल्प अर्थात् ससीमता। ईश्वर ने कभी जगत् को उत्पन्न करने का निर्णय नहीं किया और नहीं जगत् का उससे कभी विकास हुआ। जगत् ईश्वर की शक्ति का उद्भव या निस्सरण मात्र है। जगत् ईश्वर की शक्ति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है तात्पर्यतः ईश्वर एक ऐसा स्रोत है जिससे सब कुछ निकलते हुए भी उसका अन्त नहीं है ईश्वर सूर्य के समान है जिससे समस्त प्रकाश निकलता है। हालांकि वह प्रकाश कभी घटता नहीं। ईश्वर समस्त अस्तित्व का कारण है लेकिन वह कार्य में कभी परिणत नहीं होता और न ही कार्य का प्रथम कारण (ईश्वर) पर कोई प्रभाव पड़ता है। समस्त जगत् ईश्वर पर निर्भर है, पर वह जगत् पर आश्रित नहीं है। इसी प्रकार प्लॉटिनस अपरोक्षानुभूति के द्वारा ईश्वर साक्षात्कार का संदेश दिया है जिससे उसके दर्शन की परिणति रहस्यवाद में होती है जो दार्शनिक अनुशीलन की पराकाष्ठा का द्योतक है। चूँकि प्लॉटिनस ईश्वर को केवल

## 10 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

स्वानुभूति का विषय मानता है अतः रहस्यात्मक अनुभूति की इस आनन्दस्वरूप अवस्था का निरूपण तार्किक और भाषिक उपकरणों के द्वारा नहीं किया जा सकता है।

आत्मा और ईश्वर की यह तदाकारता और रहस्यवाद पाश्चात्य दर्शन के लिए एक नूतन संदेश है। चूँकि प्राचीन ग्रीक दर्शन का शुभारम्भ प्राकृतिक और बौद्धिक दृष्टिकोण से जीवन और जगत के विभिन्न समस्याओं के विवेचन के लिए हुआ था। स्पष्टतः वहाँ दार्शनिक अनुशीलन का प्रमुख आधार विवेक बुद्धि रही किन्तु प्लॉटिनस के दर्शन में बुद्धि का स्थान रहस्यवादी साधना ने ले लिया है जिससे उनके दार्शनिक चिन्तन का पर्यावसान रहस्यवादी साधना और प्रज्ञात्मक हर्षेन्माद में हुआ। फलस्वरूप दार्शनिक चिन्तन के आदर्श बौद्धिक प्रतिमानों का अवमूल्यन हो गया। इस प्रकार दर्शन के अंधकार युग की भूमिका तैयार हो गयी।

प्राचीन यूनानी दर्शन के पश्चात् ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन के मध्य युग में संत ऐन्सेल्म एवं संत थामस स्क्वीनास ने ईश्वर की अवधारणा के विकास में विशेष योगदान किया है। ऐन्सेल्म ने ईश्वर के अन्य सभी गुणों की तुलना में उसकी पूर्णता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है और इसी के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में अपनी वह विशेष युक्ति प्रस्तुत की है जिसे 'प्रत्यय—सत्ता युक्ति' कहा जाता है। उनके अनुसार ईश्वर वह सत्ता है जिसकी अपेक्षा अधिक महान अर्थात् अधिक पूर्ण सत्ता के होने का विचार भी नहीं किया जा सकता और इसी कारण जिसके अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ईश्वर के इस स्वरूप से यह सिद्ध होता है कि वह हमारा केवल मानसिक प्रत्यय ही नहीं है, अपितु वास्तव में उसका अस्तित्व है। ऐन्सेल्म के पश्चात् अनेक परवर्ती पाश्चात्य दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए यह प्रत्यय—सत्ता युक्ति दी है, अतः पश्चिमी ईश्वरवादी दर्शन में इस युक्ति का बहुत महत्व है।

ऐन्सेल्म के अतिरिक्त टॉमस एक्वीनास ने भी ईश्वर के स्वरूप तथा जगत के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में महत्वपूर्ण योगदान किया है। उनका मत अन्य पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिकों के मत से अधिक भिन्न नहीं है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने इन दोनों समस्याओं की अपेक्षा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने की समस्या पर अधिक ध्यान दिया है। ऐन्सेल्म के विपरीत एक्वीनास का निश्चित मत है कि हम विश्व सम्बन्धित अपने अनुभव के आधार पर उसके मूल कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित कर सकते हैं। अतः उन्होंने ऐन्सेल्म की अनुभवनिरपेक्ष प्रत्यय—सत्ता युक्ति का खण्डन किया है। इस युक्ति के विरुद्ध उनका कथन है हमें ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान नहीं है जिसकी अपेक्षा अधिक महान सत्ता का विचार नहीं किया जा सकता अथवा जिसके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में एक्वीनास ऐन्सेल्म के विरुद्ध गॉनिलो से

पूर्णतः सहमत हैं। उनका कथन है कि जो व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं उन्हें भी यह ज्ञात नहीं कि ईश्वर की अपेक्षा अधिक महान सत्ता का विचार नहीं किया जा सकता। फिर यदि उन्हें यह ज्ञात हो तो भी इसके द्वारा वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता; इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि हम ऐसे ईश्वर के विषय में स्वतोव्याघात के बिना तर्कतः विचार कर सकते हैं। अपनी इसी मान्यता के कारण एक्वीनास ऐन्सेल्म के विरुद्ध स्पष्ट रूप से कह कहते हैं कि ईश्वर के अनस्तित्व के विचार में कोई तार्किक दोष अथवा असंगति नहीं है।<sup>8</sup>

ऐन्सेल्म की प्रत्यय-सत्ता युक्ति का खण्डन करने के पश्चात् एक्वीनास ने अपनी इस मान्यता के समर्थन में तर्क दिये हैं कि हम अपने अनुभव के आधार पर विश्व के मूल कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर सकते हैं। अनुभव निरपेक्ष प्रत्यय-सत्ता युक्ति के विपरीत उनके ये तर्क या प्रमाण विश्व की कुछ ऐसी विशेषताओं पर आधारित है जिनका हम स्वयं अनुभव करते हैं। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए एक्वीनास ने पाँच प्रमाण प्रस्तुत किया है जिसकी चर्चा इस अध्याय के अगले खण्ड में की जायेगी।

प्राचीन तथा मध्ययुगीन पाश्चात्य दर्शन की भांति आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भी ईश्वर का महत्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जनक महान दार्शनिक रेने डेकार्ट ने ईश्वरवाद के विकास में अपना विशेष योगदान किया है। अपनी प्रमुख पुस्तक 'मेडिटेशन्स' 3 और 5 में उसने ईश्वर के अस्तित्व के लिये प्रमाण खण्ड में यथोचित स्थान पर की जायेगी। अन्य ईश्वरवादी दार्शनिकों की भांति डेकार्ट भी ईश्वर को शाश्वत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सभी दृष्टियों से पूर्ण तथा इस जगत् का रचयिता, शासक और संरक्षक मानता है। स्पिनोजा के लिये ईश्वर साक्षात्-ज्ञान का विषय है। उनकी मान्यता है कि ईश्वर का हमें स्वतंत्र बोध होता है इसका अर्थ है ईश्वर सब प्रकार के सम्बन्धों से मुक्त है, वह सर्वथा निर्विशेष है। ईश्वर सर्वप्रकारेण अनन्त है केवल एक दृष्टि से अथवा एक रूप में नहीं। जो अनन्तता सापेक्ष होती है उसमें निषेध का अंश होता है। स्पिनोजा ने स्वरूप लक्षण और विशेषणों में भेद किया है स्वरूप गुण वे हैं जिनको हम ईश्वर की परिभाषा से तर्कतः निकाल सकते हैं। जैसे ईश्वर की परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है। वह असाधारण, अपरिवर्तनशील, अनन्त आदि हैं। विशेषण पद का प्रयोग स्पिनोजा ने एक परिभाषिक अर्थ में किया है। विशेषण वे हैं जो बुद्धि द्वारा द्रव्य के स्वरूप के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। अतः उनको हम आरोपित कह सकते हैं। वेदान्त ने इसी अर्थ में उपाधि शब्द का प्रयोग किया है।

ईश्वर के लक्षण के विषय में तर्कतः कहा जा सकता है कि स्वतंत्र बोध वाला और स्वतंत्र सत्ता वाला होने के कारण ईश्वर सबसे प्रथम

## 12 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

है और सबका आधार है। द्रव्य सरल, अविभाज्य, अपरिवर्तनशील, शाश्वत एक और अनन्त है। जो वस्तु साकार, सविशेष, सापेक्ष होगी उसमें ये गुण नहीं रह सकते हैं। देकार्त ने विस्तार और विचार को भी द्रव्य की कोटि में रखा है परन्तु स्पिनोजा का आग्रह था कि द्रव्य की परिभाषा इन पर लागू नहीं होती है ये स्वतंत्र नहीं है। अतः उन्होंने इनको अपदस्थ कर विशेषण का नाम दिया। द्रव्य एक से अधिक नहीं हो सकता है, नहीं तो सीमित और सापेक्ष हो जायेगा। द्रव्य सर्वथा सब दिशा में सब दृष्ट से अनन्त है क्योंकि किसी भी प्रकार से द्रव्य को विशिष्ट करना उसमें निषेध को घुसाना है। द्रव्य स्वयंभू है; स्वयंभू का यह अर्थ नहीं है कि वह कार्य रूप है भले ही वह अपना ही कार्य क्यों न हो। इसका सही अर्थ यह है कि द्रव्य अकारण है अर्थात् उसका न कोई कारण है, न हो सकता है। द्रव्य सर्वव्यापी है क्योंकि वही एक मात्र सत्ता है। इसी से वह स्वतंत्र भी है। स्वतंत्रता का अर्थ स्वतंत्र इच्छा वाला नहीं बल्कि सर्वनिरपेक्ष सत्ता है। एक मात्र सत्ता होने के कारण द्रव्य सबका आधार व एकमात्र कारण है।

इस प्रकार यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि स्पिनोजा ने ईश्वर के उन सब लक्षणों को स्वीकार किया है जिसे सामान्यतः ईश्वरवादी स्वीकार करते हैं। स्पिनोजा केवल दो बातों को नहीं मानता, यथा प्रथम ईश्वर कोई पुरुष या व्यक्ति नहीं है और द्वितीय यह कि सृष्टि का अर्थ इच्छात्मक या संकल्पात्मक सृष्टि नहीं क्योंकि व्यक्तित्व और इच्छा पूर्णता के द्योतक नहीं बल्कि अपूर्णता के द्योतक हैं। ईश्वर सर्वव्यापी होते हुए भी सबसे परे है।

परत्व का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर किसी दूर देश में है बल्कि यह है कि ईश्वर सीमित वस्तुओं का समूह मात्र नहीं है वह उनका मूल है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि ईश्वर सर्वव्यापी है क्योंकि वह परे है। जो परे नहीं है वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता, और जो सर्वव्यापी है वास्तव में वही परे भी हो सकता है। ईश्वर में सत्ता का भेद नहीं है। इसी से कहा जाता है कि ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है वह नित्य है।

लाइबनिट्ज के 'चिद्गणुवाद' का मुख्य आधार ईश्वर की स्वीकृति है। वही सभी वस्तुओं का अन्तिम द्रव्य है। उसी ने अपनी संकल्प शक्ति से चिद्गणुओं की रचना की है। लाइबनिट्ज अपने ईश्वर को चिद्गणुओं का रचयिता और उनके परिवार का श्रेष्ठतम् सदस्य एक साथ मानकर कुछ अन्तर्विरोध अवश्य पैदा करता है, किन्तु उसके लिए कोई अन्य मार्ग भी शायद नहीं था।

लाइबनिट्ज ने ईश्वर के सहारे जन्म-मरण से मुक्त संसार की स्थापना की है। उसके अनुसार इस संसार का रचयिता ईश्वर है, जो बहुत बुद्धिमान और सर्वशक्तिशाली है, उसने असीम संसारों की संभावनाओं में से इस संसार को चुना है, अतः यह सर्वश्रेष्ठ सम्भव संसार है।



सर्वश्रेष्ठ संसार की रचना करने वाले दयालु ईश्वर को प्रमाणित करने के लिए लाइबनिट्ज का तर्क है कि चिद्गुणों के संसार के निर्माता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता है। आपातित वस्तुओं का प्रागनुभवीय विश्लेषण असीम श्रेणियों में सम्भव है और चूँकि मानव मन असीम का सम्प्रत्ययन नहीं कर सकता, अतः यह कार्य ईश्वर के ही द्वारा सम्भव है। किन्तु लाइबनिट्ज अपने साहित्य में केवल दो प्रमाणों पर विशेष बल दिया है एक पर्याप्त युक्ति पर आधारित है और दूसरा पूर्वस्थापित सामंजस्य पर।

पर्याप्त युक्ति द्वारा ईश्वर तब प्रमाणित होता है कि जब हम यह प्रश्न उठाते हैं कि यह संसार जैसा है वैसा ही क्यों है ? किसी अन्य प्रकार का क्यों नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर अथवा संसार के अस्तित्व की पर्याप्त युक्ति हमें संसार के किसी एक अथवा अनेक वस्तुओं में भी नहीं मिलती है अतः ईश्वर को ही पर्याप्त युक्ति मानना पड़ता है।

ईश्वर को पूर्वस्थापित सामंजस्य से हम तब प्रमाणित करते हैं जब यह सोचते हैं कि संसार की अपरिमित वस्तुएँ जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, पूर्ण सामंजस्य के साथ कार्य किस प्रकार कर सकती है ? हमें उत्तर देना पड़ता है कि ईश्वर ने इस सामंजस्य को उनके स्वभाव में पूर्व-स्थापित कर दिया है।

‘लाइबनिट्ज’ देकार्त और स्पिनोजा की धर्म परम्परा से प्रभावित हुए थे और इसी परम्परा के अनुसार उन्होंने अपने दर्शन को ईश्वर केन्द्रित किया है। परन्तु ईश्वर विचार के सम्बन्ध में ये प्लेटो और अरस्तू के मत से भी प्रभावित हुए। प्लेटों के शुभ सम्बन्धी प्रतयय से इनका ईश्वर प्रत्यय बहुत मिलता जुलता है फिर ईश्वर की शुद्ध वास्तविकता का विचार अरस्तू के विचार से बहुत मेल खाता है।

इसी प्रकार जब हम काण्ट के दर्शन का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि उनका दर्शन मनुष्य के स्वरूप को उसकी समग्रता में समझने का प्रयत्न है। इसी से यह दर्शन अपने को अनुभव के विवेचन तक ही सीमित रखता है और उसके विभिन्न रूपों का एक दूसरे में अन्तर्भाव किये बिना इनमें एक सूत्रता खोजने का प्रयास करता है। किन्तु अनुभव का विवेचन निरन्तर अनुभवोत्तर की ओर संकेत करता है और काण्ट इन संकेतों का अनुसरण कर अनुभव की सीमाओं को छोड़ने को तैयार नहीं है।

काण्ट के ‘परम-सत्ता’ से संबंधित सिद्धान्त को अज्ञेयवाद कहते हैं जो कि उनके समीक्षावाद से निगमित होता है। काण्ट की मान्यता है कि परम सत्ता है परन्तु इसका ज्ञान मानव को नहीं हो सकता है। काण्ट के अनुसार वैज्ञानिक ज्ञान सम्भव है; परन्तु यह वैज्ञानिक ज्ञान मानव मन के स्वरूप से ही नियंत्रित होता है। मानव मन किसी भी वस्तु को तभी जान सकता है जब वह इस ज्ञेय का अपने पूर्वानुभविक रूपों के द्वारा अभिरंजित कर देता है। इस स्थिति में जो भी मानव ज्ञान का विषय होगा वह अपने

## 14 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

असली स्वरूप में नहीं जाना जा सकता है। काण्ट स्वीकार करते हैं कि सम्भव है कि जिस ढले और रूपान्तरित आकार में वस्तुएं हमें ज्ञात होती हैं वह वस्तुओं का अपना निजी स्वरूप न हो। अतः काण्ट के अनुसार हम केवल वस्तुओं के प्रतिभासिक रूप को जान सकते हैं न कि असली स्वरूप को। इसलिए काण्ट के अनुसार 'अपने-आप-में-वस्तु' अज्ञात और अज्ञेय है।

पुनः काण्ट की मान्यता है कि 'विचारने' और 'जानने' में अन्तर होता है। प्रत्यक्ष पर आधारित विचार करने पर ज्ञान सम्भव हो सकता है, इसके विपरीत कोरे विचार के आधार पर ज्ञान सम्भव नहीं होता है। इस संदर्भ में काण्ट के अनुसार—'ईश्वर' के सम्बन्ध में मानव विचार पाये जाते हैं, पर इनका ज्ञान, सम्भव नहीं होता है। दूसरे शब्दों में मानव को 'ईश्वर' के अस्तित्व का भान होता है किन्तु उसे उसका ज्ञान (वैज्ञानिक जानकारी) नहीं होता है।

काण्ट आत्मा तथा ईश्वर को तर्कबुद्धि के विषय नहीं मानते और वे ह्यूम के इस मत का समर्थन करते हैं कि तर्कों अथवा युक्तियों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। अपनी इसी मान्यता के कारण उन्होंने अपनी पुस्तक 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' में उन सभी परम्परागत युक्तियों का खण्डन किया जो ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए शताब्दियों से प्रस्तुत की जा रही है। इनमें प्रत्यय—सत्ता युक्ति, जगत्—कारण युक्ति और प्रयोजन युक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि काण्ट निरीश्वरवादी थे, बल्कि इसके विपरीत उनकी मान्यता यह है कि ईश्वर में आस्था के लिए स्थान बनाने हेतु परम्परागत युक्तियों का खण्डन करना आवश्यक है।

काण्ट के मतानुसार हम केवल नैतिक आधार पर पूर्वमान्यता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर सकते हैं। उनका कथन है कि अपने नैतिक कर्मों के परिणामों पर विचार किये बिना केवल 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' की चेतना से प्रेरित होकर निरपेक्ष नैतिक आदेश का पालन करना बौद्धिक एवं सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य के लिए अनिवार्य है। यह विशुद्ध कर्त्तव्य चेतना ही मनुष्य को सद्गुण—युक्त व्यक्ति बनाता है, जो सुख की इच्छा किये बिना ही नैतिक कर्त्तव्य का अनिवार्यतः पालन करता है। परन्तु उच्चतम या पूर्ण नैतिक शुभ के सद्गुण के साथ—साथ उसके अनुपात में सुख का समावेश होना भी अनिवार्य है जिसका अर्थ यह है कि मनुष्य को अपने वर्तमान जीवन अथवा आगामी जीवन में उसके सद्गुणों के अनुपात में उचित सुख भी प्राप्त होना चाहिए। वस्तुतः मनुष्य को सद्गुण के अनुपात में सुख की प्राप्ति नैतिकता की अनिवार्य मांग है जिसके अभाव में उच्चतम अथवा पूर्ण शुभ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। परन्तु हम अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि इस संसार में मनुष्य को उसके सद्गुणों के अनुरूप सदैव सुख प्राप्त नहीं होता और इसके लिए स्वयं प्रयत्न

करना उसका अधिकार नहीं है। यह कार्य केवल ईश्वर ही कर सकता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, न्यायशील तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण है। ईश्वर ही सदगुण—युक्त आचरण करने वाले मनुष्य को उचित सुख प्रदान करके उच्चतम या पूर्ण शुभ को उत्पन्न कर सकता है। ईश्वर को स्वीकार किये बिना हम सदगुणों तथा सुख से परिपूर्ण उच्चतम शुभ की व्याख्या नहीं कर सकते जो नैतिकता का सर्वोच्च लक्ष्य है। अतः नैतिकता की इस मांग के कारण हमारे लिये ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना आवश्यक है। इस प्रकार काण्ट ने उच्चतम नैतिक शुभ की उत्पत्ति के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य माना है।

परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि काण्ट अपनी इस नीतिपरक युक्ति को ऐसा बौद्धिक प्रमाण नहीं मानते जो सैद्धान्तिक दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यह युक्ति नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में ही हमारे लिए ईश्वर की आवश्यकता को सिद्ध करती है। अतः इस युक्ति के आधार पर वे यह दावा नहीं करते कि उन्होंने इसके द्वारा सैद्धान्तिक दृष्टि से ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित कर दिया है। वे केवल इतना ही कहते हैं कि नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में आत्मा की अमरता की भांति ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार करना आवश्यक है।

### ईश्वर के अस्तित्व के लिये प्रमाण

विभिन्न दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अभी तक जो प्रमाण या तर्क प्रस्तुत किये हैं उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे प्रमाण आते हैं जो किसी न किसी रूप में स्वयं मनुष्य के अपने अनुभव पर ही आधारित है। इसी कारण इन्हें अनुभवाश्रित प्रमाण कहा जा सकता है। सृष्टिमूलक प्रमाण, प्रयोजनमूलक प्रमाण, नीतिपरक प्रमाण तथा धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण ऐसे ही अनुभवाश्रित प्रमाण हैं। द्वितीय वर्ग में वह प्रमाण आता है जिसका मानवीय अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो केवल ईश्वर के प्रत्यय पर आधारित है। इसे प्रत्यय—सत्ता प्रमाण कहते हैं एवं साथ ही इसे प्रागनुभविक प्रमाण की संज्ञा भी दी जाती है। इस प्रमाण में सभी दृष्टियों से पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय के आधार पर ही उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। इन सभी प्रमाणों द्वारा ईश्वरवादी दार्शनिकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर की सत्ता से सम्बन्धित विश्वास का बौद्धिक अथवा तार्किक आधार है। अतः यहाँ हम इन प्रमाणों की क्रमशः विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

#### (क) प्रत्यय—सत्ता मूलक प्रमाण —

यह एक ऐसा प्रमाण है जिसका मनुष्य के अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो केवल विशुद्ध विचार के आधार पर ईश्वर की सत्ता

## 16 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

को प्रमाणित करने का प्रयास करता है। इसी कारण इस प्रमाण को 'प्रत्यय-सत्ता-प्रमाण' की संज्ञा दी जाती है एवं इसे पूर्णतः प्रागनुभविक प्रमाण माना जाता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि प्लेटों के दर्शन में हमें यह प्रमाण प्राप्त होता है। परन्तु ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए एक व्यवस्थित तर्क के रूप में इस प्रमाण को सर्वप्रथम ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विचारक संत एन्सेल्म ने अपनी पुस्तक 'प्रोस्लोजियन' में प्रस्तुत किया। एन्सेल्म के पश्चात् आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के जनक देकार्त ने ईश्वर के अस्तित्व के लिये अन्य प्रमाणों के साथ-साथ इस प्रत्यय-सत्ता युक्ति की विस्तृत व्याख्या की। इसके अतिरिक्त लाइबनिट्ज; हेगेल; जॉन केयर्ड ने भी इस युक्ति का पक्षपोषण किया। समकालीन दार्शनिकों में नार्मन मेल्काम इसके प्रमुख समर्थक हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के लिये यह प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है।

प्रत्यय-सत्ता प्रमाण का मूल आधार किसी प्रकार का मानवीय अनुभव न होकर मनुष्य के मन में विद्यमान 'पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय' ही है जिसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जाता है। इस प्रमाण को परिनिष्ठित रूप प्रदान करते हुए इसकी व्याख्या में एन्सेल्म कहते हैं कि — ईश्वर पूर्ण तथा महानतम सत्ता है और उसकी अपेक्षा अधिक महान सत्ता के विषय में हमारे लिये विचार करना भी सम्भव नहीं है। ईश्वर के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है कि वह सभी दृष्टियों से पूर्ण सत्ता है, इसके साथ ही उसके सम्बन्ध में हमारे लिये यह कहना भी अनिवार्य है कि हम किसी ऐसी सत्ता के विषय में विचार भी नहीं कर सकते जो ईश्वर की अपेक्षा अधिक महान या पूर्ण हो। हमारे मन में पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय विद्यमान है जिससे यही सिद्ध होता है कि वस्तुगत रूप से भी उसका अस्तित्व है — अर्थात् हमारे मन से पृथक और स्वतंत्र उसकी सत्ता है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर मनुष्य का मानसिक प्रत्यय मात्र नहीं है; उसका यथार्थ और वस्तुपरक अस्तित्व भी है। यदि ईश्वर केवल मानसिक प्रत्यय होता तो उसे महानतम अथवा सभी दृष्टियों से पूर्ण सत्ता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्तुपरक अस्तित्व का अभाव स्वयं एक अपूर्णता है जिसकी सब दृष्टियों से पूर्ण ईश्वर में कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में हमारे लिये यह मानना अनिवार्य है कि हमारे मन में पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय के साथ-साथ वस्तुपरक रूप से भी उसका अस्तित्व अवश्य है।<sup>9</sup> इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एन्सेल्म ज्ञान, शक्ति आदि गुणों की भांति 'अस्तित्व' को भी एक गुण के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी कारण वे सभी दृष्टियों से पूर्ण ईश्वर में असीम शक्ति, असीम ज्ञान आदि गुणों के साथ-साथ 'अस्तित्व' नामक गुण का होना अनिवार्य मानते हैं जिसके बिना उसे वास्तविक अर्थ में 'पूर्ण' नहीं कहा जा सकता। अतः उनकी मान्यता है कि ईश्वर के स्वरूप में ही उसका अस्तित्व अनिवार्यतः निहित रहता है।

वस्तुतः एन्सेल्म ईश्वर की परिभाषा ही इस प्रकार करते हैं कि हमारे लिये ईश्वर के अस्तित्व का विचार करना ही सम्भव नहीं है—अर्थात् ईश्वर के विषय में विचार करना अनिवार्यतः उसके अस्तित्व के विषय में विचार करना है। उसके अनुसार यह कहना कि “ईश्वर महानतम अथवा पूर्ण है किन्तु उसका अस्तित्व नहीं है” उसी प्रकार स्वतोव्याघाती है जिस प्रकार यह कहना कि “गुलाब लाल है; किन्तु वह रंगीन नहीं है” क्योंकि जिस प्रकार लाल गुलाब के प्रत्यय में उसका रंगीन होना अनिवार्यतः निहित है उसी प्रकार पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय में भी उसके अस्तित्व का होना अनिवार्यतः निहित है। एन्सेल्म के इस तर्क से स्पष्ट है कि वे ईश्वर की सत्ता को आपातिक या आकस्मिक नहीं मानते बल्कि अनिवार्य मानते हैं। इस प्रकार एन्सेल्म पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय से उसके अस्तित्व को तार्किक दृष्टि से निगमित करते हैं और यह मानते हैं कि उनकी उपर्युक्त प्रत्यय—सत्ता युक्ति ईश्वर की अनिवार्य सत्ता का विश्वसनीय प्रमाण है।

एन्सेल्म के अतिरिक्त आधुनिक दर्शन के जनक देकार्त ने भी प्रत्यय—सत्ता प्रमाण का समर्थन करते हुए उसकी विस्तृत व्याख्या करते हैं। वे भी ‘अस्तित्व’ को एक गुण मानते हुए यह कहते हैं कि पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय में ही उसका अस्तित्व अनिवार्यतः निहित रहता है। अतः तार्किक दृष्टि से उसकी अनिवार्य सत्ता का निषेध करना सम्भव नहीं है। उनका कहना है कि — “जिस प्रकार त्रिभुज के प्रत्यय में ही उसके तीन कोणों का होना अनिवार्यतः निहित रहता है ठीक उसी प्रकार पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय में ही उसके वस्तुपरक अस्तित्व का होना भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है।” जिस प्रकार त्रिभुज के तीनों कोणों का निषेध करना स्वतोव्याघाती है उसी प्रकार पूर्ण ईश्वर की अनिवार्य सत्ता का निषेध करना भी स्वतोव्याघाती है।<sup>10</sup>

कतिपय समीक्षकों ने देकार्त की इस युक्ति को एन्सेल्म की अनुकृति कहा है परन्तु जहाँ एन्सेल्म के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य के ईश्वर विषयक विचार मात्र से प्रमाणित होती है, वहीं पर देकार्त के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व के कारण मानव में ईश्वर विषयक धारणा उत्पन्न होती है।

देकार्त ने सत्तामूलक युक्ति को एक अन्य रूप में भी अभिव्यक्त किया है कि — “मेरी बुद्धि में पूर्ण अनन्त ईश्वर का प्रत्यय है। अतः इस विचार अथवा प्रत्यय का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हम स्वयं इसका कारण नहीं हो सकते क्योंकि हम सीमित और अपूर्ण हैं। संसार की अन्य कोई वस्तु भी इसका कारण नहीं हो सकती क्योंकि समस्त सांसारिक वस्तुएं भी अपूर्ण एवं सीमित हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिये यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि हमारे मन में पूर्ण ईश्वर का जो प्रत्यय है उसका कारण स्वयं ईश्वर ही है जो पूर्ण एवं अनन्त है। परिणामस्वरूप ईश्वर का अस्तित्व असंदिग्ध रूप से माना जा सकता है।<sup>11</sup> इस प्रकार

## 18 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

देकार्त ने अस्तित्व को पूर्णतया के रूप में निरूपित करते हुए ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

अब यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या उपर्युक्त प्रत्यय—सत्ता—युक्ति द्वारा वास्तव में ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है। अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में दिये गये अन्य प्रमाणों की भाँति इस प्रमाण की भी तीव्र आलोचना की है। इस प्रमाण के विरुद्ध कुछ प्रमुख आपत्तियाँ इस प्रकार हैं।

सर्वप्रथम एन्सेल्म के समकालीन दार्शनिक गैनिलो ने इस प्रमाण का खण्डन किया था। इसके विरुद्ध उनकी आपत्ति यह है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो हम इसके आधार पर कसी भी कल्पित वस्तु की सत्ता सिद्ध कर सकते हैं। उनका तर्क है मान लीजिए हम एक ऐसे द्वीप की कल्पना करते हैं जो सभी दृष्टियों से पूर्ण है। अब हमारे में इस पूर्ण द्वीप का प्रत्यय विद्यमान है, अतः एन्सेल्म की प्रत्यय—सत्ता युक्ति के अनुसार इस द्वीप के अस्तित्व का होना अनिवार्य है। क्योंकि इस द्वीप को सभी दृष्टियों से पूर्ण तभी कहा जा सकता है जब हमारे मन में इसके प्रत्यय के साथ—साथ वास्तव में इसका अस्तित्व भी हो। इसके वस्तुपरक अस्तित्व का अभाव इसमें अपूर्णता उत्पन्न करता है। इस प्रकार एन्सेल्म की युक्ति के आधार पर इस कल्पित पूर्ण द्वीप का वस्तुपरक अस्तित्व अनिवार्यतः प्रमाणित हो जाता है। परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि हमारा इस प्रकार का प्रयास नितान्त निराधार एवं हास्यास्पद है, क्योंकि किसी पूर्ण वस्तु की कल्पना करने से ही उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं हो जाता है। इसलिये गैनिलो का निष्कर्ष है कि किसी वस्तु का विचार में होना एक बात है तथा उसका यथार्थ एवं वस्तुपरक होना बिल्कुल दूसरी बात है। इन दोनों बातों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।<sup>12</sup>

गैनिलो की इस आपत्ति का उत्तर देते हुए एन्सेल्म ने कहा था कि उनका सत्ता मूलक प्रमाण केवल पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय के सम्बन्ध में ही लागू होता है क्योंकि ईश्वर का प्रत्यय समस्त सांसारिक वस्तुओं के प्रत्ययों से पूर्णतः भिन्न तथा अद्वितीय है। सभी सांसारिक वस्तुओं की केवल आपातिक या आकस्मिक सत्ता है—अर्थात् उनका अस्तित्व अनिवार्यतः अन्य वस्तुओं के अस्तित्व पर ही निर्भर है और हम उसके अनस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं। केवल ईश्वर की सत्ता ही अनिवार्य सत्ता है अतः उसके अनस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। कालान्तर में समकालीन विश्लेषणवादी दार्शनिकों ने एन्सेल्म की इस धारणा का प्रत्याख्यान किया कि ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता है। उनका तर्क है कि हम केवल विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के सम्बन्ध में ही अनिवार्यता की बात सार्थकतापूर्वक कर सकते हैं, ईश्वर की अनिवार्य सत्ता की बात करना निरर्थक, दोषपूर्ण एवं भ्रामक है। अतः ईश्वर को अनन्य अथवा अद्वितीय कहकर उसकी सत्ता को सिद्ध नहीं

किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है उसके अनस्तित्व को भी निश्चय ही कल्पना की जा सकती है अर्थात् यदि हम ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं तो हम उसके अनस्तित्व को भी अवश्य ही कल्पना कर सकते हैं।

यह सत्य प्रतीत होता है कि ईश्वर की अनिवार्य वास्तविकता साधारण तथा वैज्ञानिक अनुभूति पर आधारित नहीं है और इसे संज्ञानात्मक नहीं माना जा सकता परन्तु इस धारणा का धार्मिक दृष्टि से महत्व है। मैल्काम के अनुसार ईश्वर की अनिवार्य वास्तविकता धार्मिक अनुभूति की मान्यता है और इस प्रकार की अनुभूति में पापों की क्षमा के भाव का हाथ हो सकता है। अनेक प्रकार के भावों का धार्मिक अनुभूति से समन्वय होता है। अस्तित्ववादी दृष्टि से धार्मिक अनुभूति जीवन के सम्पूर्णत्व के प्राप्ति भाव अथवा जीवन की चिन्ता, बेचैनी, अशांति तथा विडम्बना के प्रति स्थिरता भाव के प्रादुर्भाव से उत्पन्न होती है और इसी के फलस्वरूप वह प्रतीक जिसके द्वारा यह गहरी आत्मग्रसित एवं संवेगात्मक अनुभूति होती है 'ईश्वर' कहा जाता है। अतः भाव संवेग के आधिक्य से बोझिल होकर ईश्वर से अभिभूत होकर भक्त के लिये ईश्वर एक मात्र सत्ता दिखायी देता है जिसके बिना वह एक क्षण भी नहीं रह सकता है। इसी सत्ता को वह अनिवार्य सत्ता की संज्ञा देता है।

एन्सेल्म, देकार्त आदि सत्तामूलक प्रमाण के समर्थकों ने शक्ति तथा ज्ञान की भाँति 'अस्तित्व' को भी ईश्वर का अनिवार्य गुण माना है। परन्तु उनका यह मत नितान्त भ्रामक है। काण्ट ने सत्तामूलक प्रमाण की तीव्र आलोचना करते हुए यह प्रमाणित किया है कि 'अस्तित्व' किसी वस्तु का कोई ऐसा गुण नहीं है जो उसमें विद्यमान रहता है। जब हम किसी वस्तु के गुण की बात करते हैं तो हम इसके द्वारा अनिवार्यतः उसकी कोई विशेषता बताते हैं। जैसे जब हम कहते हैं कि 'गुलाब लाल है' तो हम गुलाब की लालिमा के विषय में सूचना देते हैं। यही बात सभी वस्तुओं के अन्य गुणों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। परन्तु जब हम कहते हैं कि 'अमुक वस्तु का अस्तित्व है' तो हम उस वस्तु के विषय में कोई अतिरिक्त सूचना नहीं देते; हम केवल इतना ही कहते हैं कि वह वस्तु है। इसका तात्पर्य यह है कि 'अमुक वस्तु का अस्तित्व है' और 'अमुक वस्तु है' ये दोनों कथन पूर्णतः समानार्थक है। सत्तामूलक प्रमाण के समर्थकों ने इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हुए अन्य गुणों की भाँति 'अस्तित्व' को भी वस्तुओं का एक अतिरिक्त गुण मान लिया है और इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने पूर्ण ईश्वर की अनिवार्य सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है जो निराधार एवं अयुक्तिसंगत है।

पुनः यदि सत्तामूलक प्रमाण के समर्थकों की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय कि 'अस्तित्व' एक गुण है तो भी उनके इस प्रमाण के द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि वास्तव में ईश्वर का वस्तुपरक

## 20 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

अस्तित्व है। काण्ट की मान्यता है कि धारणा के द्वारा धारण का अनुमान किया जा सकता है न कि वास्तविकता का। जैसे—त्रिकोण को परिभाषित करते हुए हम कह सकते हैं कि त्रिकोण वह आकृति है जिसमें तीन कोण होते हैं। अर्थात् यदि कोई त्रिलोण है तो उसमें तीन कोणों का होना अनिवार्य है क्योंकि किसी आकृति को त्रिकोण कहना और उसके तीनों कोणों को स्वीकार न करना परस्पर विरोधी बातें हैं। परन्तु त्रिकोण की इस परिभाषा से यह प्रमाणित नहीं होता है कि वाह्य जगत में त्रिकोण का वास्तविक अस्तित्व है। ठीक यही बात ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कही

जा सकती है।<sup>13</sup> काण्ट का कथन है कि—हमारे मस्तिष्क में सौ संभावित डालरों के होने की धारणा मात्र से हमारी जेब में वास्तव में सौ डालर नहीं आ सकते। क्योंकि सम्प्रत्यय और वास्तविकता दो अलग-अलग बातें हैं। इन दोनों बातों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः धारणा के आधार पर वास्तविकता की सिद्धि नहीं हो सकती है।<sup>14</sup>

इस प्रकार यदि हम एन्सेल्म के ईश्वर की इस परिभाषा को स्वीकार कर लें कि 'ईश्वर वह है जिसकी अपेक्षा अधिक महान या पूर्ण सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती' तो भी इससे केवल यही सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर है तो उसकी अपेक्षा महान अथवा पूर्ण सत्ता की कल्पना करना सम्भव नहीं है। परन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि ईश्वर का वास्तविक या वस्तुपरक अस्तित्व है। वस्तुतः सत्तामूलक प्रमाण के समर्थक ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के स्थान पर उसे केवल इसलिए मान लेते हैं कि उनके मन में पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय है। ऐसी स्थिति में उनके इस तर्क को वास्तविक अर्थ में 'प्रमाण' कहना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

### (ख) सृष्टि मूलक प्रमाण —

इस प्रमाण का सम्बन्ध सृष्टि अथवा जगत से है। इसमें जगत के अस्तित्व के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। विश्व में विद्यमान विभिन्न वस्तुओं और प्राणियों के अस्तित्व का प्रत्यक्षतः अनुभव हमें होता है। अपने अनुभव द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक प्राणी तथा वस्तु का कोई कारण अवश्य होता है जिस पर इसका अस्तित्व निर्भर करता है। कारण के अभाव में हम किसी वस्तु की उत्पत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में अपने इसी सामान्य अनुभव के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस विश्व का कोई कारण अवश्य है और उसे ही 'ईश्वर' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार सृष्टिमूलक प्रमाण में विश्व के कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय दर्शन में नैयायिकों तथा अद्वैत वेदांत के समर्थकों और पाश्चात्य दर्शन में अरस्तू, एक्वीनास, देकार्त, लाइबनिट्ज आदि अनेक दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में ईश्वर के अस्तित्व के लिये सृष्टिमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया है।



सम्भवतः सर्वप्रथम महान दार्शनिक अरस्तू ने ईश्वर के अस्तित्व के लिये गति सम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किया था। तत्पश्चात् मध्य युग में एक्वीनास ने ईश्वर की सत्ता के समर्थन में अन्य प्रमाणों के साथ-साथ यह प्रमाण भी दिया और विश्व में विद्यमान गति के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया। हम संसार में अनेक वस्तुओं की गतिशीलता का अनुभव करते हैं। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि कोई भी वस्तु स्वतः ही गतिशील नहीं हो सकती—उसे गति प्रदान करने वाला कोई कारण अवश्य होता है। यदि हम विश्व में विद्यमान गतिशील वस्तुओं की गति के कारणों की खोज करें तो कारण-कार्य की यह श्रृंखला अनंत की ओर अग्रसर होती हुयी प्रतीत होती है। फलस्वरूप अनब्या दोष उत्पन्न हो जाता है। अतः इस दोष से बचने के लिए ऐसी सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है जो समस्त गतिशील वस्तुओं की गति का आदि कारण है—अर्थात् जिसने उन्हें सर्वप्रथम गति प्रदान की है। इसी सत्ता को 'ईश्वर' कहा जाता है जो सभी गतिशील वस्तुओं का मूल कारण है। स्वयं गतिशील न होते हुए भी वही समस्त गतिशील वस्तुओं को गति प्रदान करने वाला आदि स्रोत है। इसी कारण अरस्तू ने ईश्वर को अप्रवर्तित प्रवर्तक कहा है।<sup>15</sup> अर्थात् ईश्वर गतिशील सत्ता नहीं है, वह तो संसार में समस्त गतिशील वस्तुओं की गति का गतिरहित आदि कारण है।

किन्तु इस प्रमाण के विरुद्ध प्रमुख आपत्ति यह है कि इसमें एक गतिहीन सत्ता को विश्व में विद्यमान गति का आदि कारण मान लिया गया है। अनुभवों से हमें ज्ञात है कि केवल कोई गतिशील वस्तु ही किसी गतिहीन वस्तु को गति प्रदान कर सकती है; वस्तु स्वयं ही गतिहीन है वह किसी अन्य वस्तु को कभी भी गति प्रदान नहीं कर सकती। पुनः यदि ईश्वर को गतिशील सत्ता माना जाय तो हमें उसके गति के कारण की खोज करनी होगी। ऐसी स्थिति में हम गति के कारणों की अनंत श्रृंखला के फलस्वरूप उत्पन्न उस अनब्या दोष से नहीं बच पायेंगे जिससे बचने के लिए ईश्वर के अस्तित्व की प्राक्कल्पना की गयी है। फिर यदि उपर्युक्त आपत्ति की उपेक्षा करते हुए इन दार्शनिकों की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय तो भी इसके आधार पर केवल यही प्रमाणित होता है कि विश्व में विद्यमान गति का कोई आदि कारण है। इसके द्वारा उस ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती जिसमें धर्मपरायण व्यक्ति या ईश्वरवादी दार्शनिक विश्वास करते हैं।

सृष्टिमूलक प्रमाण का दूसरा रूप आकस्मिकता सम्बन्धी प्रमाण है। इसमें सांसारिक वस्तुओं के आकस्मिक अस्तित्व के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रमाण को प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों का कथन है कि इस विश्व में प्रत्येक प्राणी तथा वस्तु का अस्तित्व केवल आकस्मिक है अर्थात् उसका होना अनिवार्य

## 22 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

नहीं है और उसका अस्तित्व किसी अन्य प्राणी एवं वस्तु के अस्तित्व पर ही अनिवार्यतः निर्भर है। हम प्रत्येक प्राणी तथा वस्तु के विषय में यह कह सकते हैं कि उसका अनस्तित्व सम्भव था और यदि किसी अन्य प्राणी तथा वस्तु के विषय में यह कह सकते हैं कि उसका अनस्तित्व सम्भव था और यदि किसी अन्य प्राणी तथा वस्तु का अस्तित्व न होता तो उसका अस्तित्व भी न होता। इस अर्थ में सभी प्राणियों और वस्तुओं का अस्तित्व अनिवार्य न होकर केवल आकस्मिक ही है। यथा—मेज की निर्भरता लकड़ी पर है, लकड़ी की निर्भरता वृक्ष पर है और वृक्ष की निर्भरता मिट्टी एवं जलवायु पर होती है। स्पष्टतः विश्व में समस्त प्राणियों तथा वस्तुओं की पारस्परिक निर्भरता की यह अनन्त श्रृंखला है, जिसके कारण प्रत्येक प्राणी एवं वस्तु के अस्तित्व की व्याख्या किसी अन्य प्रणाली एवं वस्तु के आधार पर ही की जा सकती है। ऐसी स्थिति में अनन्त श्रृंखला से बचने के लिए एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है जो आकस्मिक न होकर अनिवार्य हो और जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व पर निर्भर न हो। यह अनिवार्य सत्ता ही ईश्वर है।<sup>16</sup> इसी ईश्वर के आधार पर हम संसार की समस्त आकस्मिक वस्तुओं के अस्तित्व की व्याख्या कर सकते हैं क्योंकि ईश्वर की सत्ता का हेतु स्वयं ईश्वर का अस्तित्व ही है अर्थात् ईश्वर का अनस्तित्व असम्भव है।<sup>17</sup> इस प्रकार इस प्रमाण को प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों ने सांसारिक वस्तुओं की आकस्मिकता के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

परन्तु गति सम्बन्धी प्रमाण की भांति यह आकस्मिकता सम्बन्धी प्रमाण भी तर्कसंगत रूप से ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने में असमर्थ है। ईश्वर को अनिवार्य सत्ता के रूप में सिद्ध करने का प्रयास अस्पष्ट; असंगत और अवोधगम्य है। अनुभव से यह प्रमाणित होता है कि हम जिसके अस्तित्व की कल्पना करते हैं उसके अनस्तित्व की भी कल्पना की जा सकती है। ऐसी किसी वस्तु की कल्पना करना असम्भव लगता है जिसके स्वरूप में कोई परिवर्तन न हो, जो सदैव एक जैसा रहे। भाषा—विश्लेषणवादियों ने किसी घटना या वस्तु को अनिवार्य कहना निरर्थक और अबोधगम्य कथन कहा है। वस्तुतः घटनाओं तथा वस्तुओं के स्थान पर भाषा में प्रयुक्त कुछ विशेष वाक्यों के संदर्भ में ही अनिवार्यता की अवधारणा का सार्थकता पूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। शब्दों की परिभाषा पर आधारित पुनरुक्तियाँ मात्र होने के कारण कुछ विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ अनिवार्यतः सत्य होती हैं, किन्तु किसी घटना या वस्तु के सन्दर्भ में ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। पुनः इस युक्ति के समर्थक विश्व को एक वस्तु मानकर ईश्वर के आधार पर उसके अस्तित्व की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं, और ईश्वर की व्याख्या के लिये स्वयं उसे ही एक मात्र आधार मानते हैं। यह सत्य है कि इस विश्व में प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व के लिये

किसी अन्य वस्तु पर निर्भर रहती है। अतः उसके अस्तित्व की व्याख्या किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व के आधार पर ही की जा सकती है। इस अर्थ में सभी सांसारिक वस्तुएं निश्चय ही आकस्मिक है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है कि विश्व भी एक आकस्मिक वस्तु है जिसकी व्याख्या के लिये ईश्वर जैसी किसी अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। वस्तुतः यह विश्व दिक्-काल सहित सभी प्राणियों, पेड़-पौधों, घटनाओं तथा वस्तुओं की समष्टि का नाम है। ऐसी स्थिति में आकस्मिकता सम्बन्धी प्रमाण के समर्थकों की इस मान्यता का कोई अर्थ नहीं हो सकता कि यह विश्व एक आकस्मिक वस्तु है जिसके अस्तित्व की व्याख्या ईश्वर की अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करके ही किया जा सकता है। सामान्यतः हम प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व की व्याख्या उन वस्तुओं के आधार पर करते हैं जिन पर उसका अस्तित्व प्रत्यक्षः निर्भर रहता है। इसके लिये हमें सम्पूर्ण विश्व के अस्तित्व की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

सृष्टिमूलक प्रमाण के तीसरे रूप का सम्बन्ध कारणता की अवधारणा से है। न्याय दर्शन के आचार्य उदयन ने अपनी 'न्याय कुसुमाञ्जलि' में तथा अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपनी कृत्तियों में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए कारण परक प्रमाण प्रस्तुत किया है। इस प्रमाण का आधार अनुभवसिद्ध कारण-कार्य सम्बन्ध है। हम अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि इस विश्व में कोई भी वस्तु या घटना आकरण नहीं होती, प्रत्येक वस्तु अथवा घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कारण के अभाव में हम कार्य की उत्पत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह सम्पूर्ण जगत् कारण-कार्य के इसी अनिवार्य नियम द्वारा शासित और संचालित होता है। एक घटना दूसरी घटना को, दूसरी घटना तीसरी घटना को तथा तीसरी चौथी को, चौथी पाँचवीं को..... जन्म देती है और कारण कार्य की यह श्रृंखला से बचने के लिये किसी ऐसे आदि कारण को मानना आवश्यक है जिसका अपना कोई कारण न हो और जो इस श्रृंखला का प्रथम कारण हो। ऐसे आदि कारण को स्वीकार न करने से अनिवार्यतः अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। स्पष्ट है कि विश्व का यह आदि कारण ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। जिस प्रकार विश्व की प्रत्येक वस्तु तथा घटना का कारण अनिवार्य है उसी प्रकार इस विश्व के कारण का होना अनिवार्य है और यह कारण ईश्वर ही है।

भारतीय दर्शन में नैयायिकों ने भी ईश्वर के अस्तित्व के लिये यह कारण परक प्रमाण दिया है। उनके मतानुसार ईश्वर इस विश्व का उपादान कारण न होकर केवल निमित्त कारण है—अर्थात् उसने पहले से विद्यमान कुछ शाश्वत् द्रव्यों के आधार पर ही इस विश्व की रचना की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने दिक्-काल, आकाश, आत्मा, मनस एवं पुद्गल (परमाणु) इन छः शाश्वत द्रव्यों का उल्लेख किया है जिनका रचयिता ईश्वर

## 24 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

नहीं है किन्तु जिनके आधार पर उसने इस जगत की रचना की है।<sup>18</sup> इस प्रकार नैयायिक निश्चित रूप से यह मानते हैं कि जगत के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर विश्व का सृष्टिकर्ता है।

परन्तु गति सम्बन्धी प्रमाण तथा आकस्मिकता सम्बन्धी प्रमाण के समान ही यह कारण परक प्रमाण भी तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में असमर्थ है। यह प्रमाण निश्चय ही जनसाधारण को बहुत प्रभावित करता है और इसके आधार पर सामान्य व्यक्ति ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने लगता है किन्तु इस प्रमाण के विरुद्ध ऐसी अनेक गम्भीर आपत्तियाँ हैं जो इसे अविश्वसनीय सिद्ध करती हैं।

कारण परक प्रमाण के समर्थकों ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये अन्य वस्तुओं एवं घटनाओं की भाँति विश्व को भी एक वस्तु मान लिया है जिसके अस्तित्व का कोई कारण होना आवश्यक है। परन्तु उनकी यह मान्यता नितान्त भ्रामक है क्योंकि वस्तुतः 'विश्व' एक समूह वाचक संज्ञा है जिसमें दिक्-काल सहित समस्त भौतिक वस्तुएँ पेड़-पौधे तथा प्राणी सम्मिलित हैं। विश्व में सम्मिलित विभिन्न वस्तुओं के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं और होते हैं। ऐसी स्थिति में विश्व को एक वस्तु मानकर

यह प्रश्न करना निरर्थक है कि उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है।<sup>19</sup> उदाहरणार्थ—यदि किसी दस वस्तुओं के समूह में से प्रत्येक वस्तु का कारण बता दिया जाय तो यह पूछना निरर्थक होगा कि इस समूह का कारण क्या है, क्योंकि यह समूह उन दस वस्तुओं के संघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ठीक यही बात विश्व के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।<sup>20</sup> कारणपरक प्रमाण का मूल आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का कारण अवश्य होता है। अतः यदि इसे मान लिया जाय तो युक्तिसंगत रूप से यह प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर के अस्तित्व का कारण क्या है। कारण परक प्रमाण के समर्थक इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। वे केवल यही कहते हैं कि ईश्वर का कोई कारण नहीं है क्योंकि ईश्वर स्वयंभू अथवा अपना कारण स्वयं है। परन्तु यह कारण परक प्रमाण के विरुद्ध है क्योंकि इसकी मान्यतानुसार कोई भी वस्तु अकारण नहीं हो सकती। यदि यह मान्यता सत्य है तो ईश्वर भी अकारण नहीं हो सकता। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कारणपरक प्रमाण के समर्थक यह कहते हैं कि कारण-कार्य की अनन्त श्रृंखला से बचने के लिये ईश्वर को अकारण मानना आवश्यक है। परन्तु उनका यह उत्तर स्वयं उनके अपने तर्क के विरुद्ध है क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि कोई वस्तु बिना किसी कारण के भी हो सकती है। स्पष्टतः ईश्वर को अकारण मानकर वे स्वयं ही अपने कारण परक प्रमाण का खण्डन करते हैं। इसके अतिरिक्त इन दार्शनिकों से

यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि यदि ईश्वर अकारण हो सकता है तो यह विश्व अकारण क्यों नहीं हो सकता। यदि किसी वस्तु को अकारण मानना आवश्यक तथा अनिवार्य ही है तो ईश्वर की अपेक्षा विश्व को अकारण मानना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है क्योंकि विश्व का अनुभव हमें प्राप्त है जबकि ईश्वर हमारे अनुभव से परे है। इस प्रकार यह प्रमाण केवल अविश्वसनीय ही नहीं है, अपितु इसमें स्वतोव्याघात भी विद्यमान है जो इसे बहुत दोषपूर्ण बना देता है।

पुनः कारणता की अवधारणा का एक मात्र आधार हमारा अनुभव ही है। अतः अनुभव से परे इस अवधारणा का हमारे लिये कोई अर्थ नहीं हो सकता। हम केवल दिक्-काल के अन्तर्गत होने वाली घटनाओं के सन्दर्भ में ही कारणता की अवधारणा का प्रयोग कर सकते हैं। दिक्-काल से परे हम सार्थकतापूर्वक कारण-कार्य की बात नहीं कर सकते। तात्पर्यतः अनुभवात्मक जगत से परे कारणता की अवधारणा हमारे लिये निरर्थक हो जाती है परन्तु कारण परक प्रमाण के समर्थक अनुभवातीत ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये इसका प्रयोग करते हैं तो निश्चय ही उचित नहीं है। इसी तथ्य के आधार पर काण्ट कारणपरक प्रमाण की तीव्र आलोचना करते हुए कहते हैं कि — “अनुभवात्मक जगत के अतिरिक्त कारणता के नियम का न कोई अर्थ है और न उसके प्रयोग के लिये हमारे पास कोई कसौटियाँ है। परन्तु सृष्टिमूलक प्रमाण में इस का प्रयोग हमें अनुभवात्मक जगत से परे जाने में समर्थ बनाने के लिए ही किया गया है।”<sup>21</sup>

दूसरी तरफ कारण-कार्य की अनन्त श्रृंखला तर्कबुद्धि के विरुद्ध प्रतीत नहीं होती। हम तर्कसंगत रूप से यह मान सकते हैं कि विश्व में एक घटना दूसरी घटना का कारण है और इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है। काल एवं संख्या के सम्बन्ध में हम पहले ही बिना किसी तार्किक कठिनाई के इस विचार को स्वीकार करते हैं।<sup>22</sup> उदाहरणार्थ—हम आगे तथा पीछे की ओर अनन्त समय की कल्पना कर सकते हैं। इसी प्रकार हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि संख्या की छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी इकाई का कोई अंत नहीं है। इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि अनन्त श्रृंखला का विचार हमारी तर्कबुद्धि के विरुद्ध नहीं है। यदि हमारा यह मत युक्ति संगत है तो कारणपरक प्रमाण का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि इस प्रमाण के समर्थक कारण-कार्य की अनन्त श्रृंखला से बचने के लिये ही विश्व के आदि कारण के रूप में ईश्वर की कल्पना करते हैं।

यदि उपर्युक्त सभी आपत्तियों की उपेक्षा करते हुए यह मान लिया जाय कि ईश्वर ही इस विश्व का आदि कारण है तो भी कारण परक प्रमाण द्वारा उस ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता जिसमें धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक विश्वास करते हैं क्योंकि उनके द्वारा ईश्वर

## 26 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, परम दयालु एवं शुभ शाश्वत, अपरिवर्तनशील तथा सभी सृष्टियों से पूर्ण माना जाता है। कारणपरक प्रमाण द्वारा ऐसे ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। इस प्रमाण के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्तियों की ओर ध्यान न देने पर भी इसके द्वारा केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि इस विश्व का कोई आदि कारण है जिसे 'ईश्वर' की संज्ञा दी जा सकती है किन्तु इसके द्वारा उस कारण के विशेष स्वरूप को सिद्ध नहीं किया जा सकता जिसे धर्मपरायण व्यक्ति स्वीकार करते हैं। अर्थात् उसके आधार पर हम तर्कसंगत रूप से उस ईश्वर के अस्तित्व को कभी प्रमाणित नहीं कर सकते जो भक्तों की उपासना का विषय है और जिसका स्वरूप उपरोक्त तत्त्वमीमांसीय एवं नैतिक गुणों से युक्त है।

### (ग) प्रयोजन मूलक प्रमाण –

ईश्वरवादी दार्शनिकों ने सृष्टिमूलक प्रमाण के अतिरिक्त प्रयोजनमूलक प्रमाण द्वारा भी ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। प्रयोजनमूलक प्रमाण भी मूलतः अनुभवाश्रित प्रमाण है। अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के लिये प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य दर्शन में सर्वप्रथम प्लेटो ने ईश्वर की सत्ता के लिये यह प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया था। तत्पश्चात् मध्य युग में एक्वीनास ने सृष्टिमूलक प्रमाण के साथ-साथ इस प्रमाण को भी ईश्वर के अस्तित्व के लिये एक महत्वपूर्ण प्रमाण के रूप में स्वीकार किया। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भी विलियम पैली; हेनरी मोर, जेम्स मार्टिन्स, एफ०आर० टैनेण्ट आदि अनेक दार्शनिकों ने इस प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

प्रयोजनमूलक प्रमाण के अन्तर्गत विश्व में व्याप्त प्रयोजन, उद्देश्य, सुसंगति, व्यवस्था और अनुरूपता के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इस प्रमाण के समर्थक विचारक यह कहते हैं—तथा हमारा सामान्य अनुभव भी इस तथ्य की पुष्टि करता है—कि जब कोई व्यवस्था स्थापित की जाती है अथवा किसी वस्तु की रचना की जाती है तो उसके मूल में कोई उद्देश्य या प्रयोजन अवश्य होता है। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक निश्चित व्यवस्था स्पष्ट रूप से दिखायी देती है जिसके अनुसार इसके समस्त ग्रह नक्षत्रों का संचालन होता है। इसकी सभी वस्तुएं तथा कार्य प्रणालियाँ कुछ विशेष प्राकृतिक नियमों द्वारा शासित होती हैं जो सर्वत्र व्याप्त हैं।

यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि किसी प्रकार की व्याख्या के लिये व्यवस्थापक और किसी प्रकार के प्रयोजन के लिये प्रयोजनकर्ता का होना अनिवार्य है। चूँकि हम देखते हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्राकृतिक नियमों पर आधारित एक निश्चित व्यवस्था है और सभी प्राणियों के अंगों में समुचित समायोजन दिखायी देता है, जिसका प्रयोजन उनकी जीवन रक्षा

तथा उनका विकास है। ईश्वरवादी दार्शनिकों का कथन है कि ब्रह्माण्ड में विद्यमान इस व्यवस्था और प्रयोजन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसका कोई रचयिता अवश्य है जिसने एक विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए इसमें व्यवस्था स्थापित की है। ब्रह्माण्ड का यह रचयिता और व्यवस्थापक ही ईश्वर है जिसके बिना इसके अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

पाश्चात्य दार्शनिक विलियम पैली ने अपनी पुस्तक 'नेचुरल थियोलॉजी' में इसी प्रयोजन मूलक प्रमाण के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। इस प्रमाण की पुष्टि के लिये उन्होंने सौरमण्डल के अन्तर्गत अपनी-अपनी कक्षाओं में घुमने वाले ग्रहों, पृथ्वी पर नियमानुसार परिवर्तित होने वाली ऋतुओं, प्राणियों के अंगों की जटिल रचना तथा उनके पारस्परिक समायोजन का उल्लेख किया है। उनके अनुसार ये सभी बातें ब्रह्माण्ड में विद्यमान व्यवस्था और प्रयोजन को स्पष्टतः प्रमाणित करती हैं, जिनके आधार पर हम इसके बुद्धिमान रचयिता ईश्वर की सत्ता को भली-भाँति सिद्ध कर सकते हैं। अपने इस प्रयोजन मूलक प्रमाण की व्याख्या करने के लिये पैली ने घड़ी और घड़ी और घड़ीसाज का उदाहरण प्रस्तुत किया है।<sup>23</sup>

जेम्स मार्टिनो ने प्रयोजन मूलक तर्क को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विश्व अपने आप उत्पन्न नहीं हुआ है, इसकी उत्पत्ति के पीछे कोई उद्देश्य या प्रयोजन है। विश्व की व्यवस्था देखकर ऐसा लगता है कि इसमें बुद्धि तथा संकल्प का खेल है। जिस व्यवस्था में चयन संचयन तथा अनुक्रम हो; वहाँ कहा जा सकता है कि बुद्धि और संकल्प की भूमिका है। ये तीनों बातें विभिन्न जीवों के अंग प्रत्यंगों की बनावट, समायोजन इत्यादि से स्पष्ट होती है। अतः सृष्टि का महान सृष्टिकर्ता अवश्य है।<sup>24</sup>

एफ0आर0 टेनेण्ट ने प्रयोजनमूलक युक्ति को एक नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। उनका तर्क है कि विश्व में निहित प्रयोजन की स्थापना किसी एक तथ्य अथवा तथ्यों के समूह से नहीं हो सकती। प्रकृति में निहित व्यवस्था एवं समन्वय में अनेक कारण परस्पर सहयोग द्वारा योगदान देते हैं। व्यापक प्रयोजन के इस प्रत्यक्ष में हमें ईश्वर का अनुमान होता है।<sup>25</sup> उनकी धारणा है कि यह आपत्ति कि ज्ञेय जगत में रचना के संकेतों से सम्पूर्ण जगत की रचना का प्रमाण नहीं मिलता, इस तर्क व सत्यता को प्रभावित नहीं करती। प्रयोजन की धारणा इस मान्यता पर आधारित नहीं है कि उसके विरोध की कल्पना नहीं हो सकती। वास्तव में इस जगत में व्यवस्था एवं अव्यवस्था में पूर्ण समन्वय प्रतीत होता है।

वर्तमान शताब्दी में भी कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये यह प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया है जिनमें

## 28 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

ए०आई० ब्राउन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर इस प्रमाण का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने हमारी पृथ्वी के ऊपर पर्यावरण में विद्यमान 'ओजोन' नामक गैस की उस परत का उदाहरण दिया है जो इस पृथ्वी पर समस्त प्राणियों तथा पेड़-पौधों के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये अनिवार्य है। यह 'ओजोन' गैस इस धरती पर प्राणियों के जीवन के लिये एक ऐसा रक्षा कवच है जिसके बिना वे एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। ब्राउन कहते हैं कि—'ओजोन गैस की परत रचयिता द्वारा पहले से सोच समझकर किये गये कार्य का महान प्रमाण है। क्या कोई इस गैस की परत को विकास की आकस्मिक प्रक्रिया का परिणाम मान सकता है? एक ऐसी दीवार जो प्रत्येक

प्राणी को मृत्यु से बचाती है..... योजना का प्रमाण देती है।<sup>26</sup> अर्थात् प्राणियों की जीवन रक्षा के लिये ही ईश्वर ने जानबूझकर पृथ्वी के ऊपरी पर्यावरण में ओजोन गैस की यह परत स्थापित की है। उनके विचार में इससे यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि ईश्वर की सत्ता है।

भारतीय दार्शनिकों में नैयायिक जयंत भट्ट तथा अद्वैत वेदान्त के प्रणेता शंकराचार्य ने भी ईश्वर की सत्ता के समर्थन में प्रयोजन मूलक प्रमाण को स्वीकार किया है। जयंत भट्ट कहते हैं कि जिस प्रकार व्यवस्था और प्रयोजन से परिपूर्ण सांसारिक वस्तुएँ भवन, वस्त्र, घट आदि बुद्धिमान मनुष्यों द्वारा ही निर्मित होती है और केवल संयोगवश उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड की रचना भी सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर द्वारा ही की गयी है, क्योंकि इसमें व्यवस्था एवं प्रयोजन विद्यमान है। यह व्यवस्थित और प्रयोजनपूर्ण ब्रह्माण्ड किसी प्रकार के संयोग मात्र का परिणाम नहीं हो सकता; इसका कोई बुद्धिमान रचयिता अवश्य है और वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ही है। जयंत भट्ट का मत है कि इस व्यवस्थित और प्रयोजनपूर्ण ब्रह्माण्ड तथा इसके रचयिता में वही अनिवार्य सम्बन्ध है जो धुएँ और अग्नि में पाया जाता है। अतः उनके अनुसार ईश्वर की सत्ता के लिये प्रयोजनमूलक प्रमाण पूर्णतः युक्तिसंगत है।

यद्यपि यह सत्य है कि शंकराचार्य पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण, निराकार और निर्विशेष ब्रह्म को ही एक मात्र रूथार्थ सत्ता मानते हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने भी इस जगत तथा उसके रचयिता ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इसी व्यावहारिक दृष्टि से वे ईश्वर की सत्ता के लिये सृष्टिमूलक तथा नीतिपरक प्रमाणों के साथ-साथ प्रयोजनमूलक प्रमाण का भी समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि इस जगत की वस्तुओं में व्यवस्था और प्रयोजन स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं जिनसे यही प्रमाणित होता है कि इसकी रचना बुद्धिमान ईश्वर ने की है। जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी को एक व्यवस्थित और प्रयोजनपूर्ण घड़े में परिवर्तित कर देता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी माया से इस व्यवस्थित



एवं प्रयोजनपूर्ण जगत की रचना करता है। इस रचयिता अर्थात्—ईश्वर के अभाव में हम जगत में विद्यमान व्यवस्था और प्रयोजन की संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते।

अभी तक हमने ईश्वर के अस्तित्व के लिये कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत प्रयोजनमूलक प्रमाण की व्याख्या की, किन्तु यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि यह प्रयोजनमूलक प्रमाण कहाँ तक युक्ति संगत और संतोषप्रद है। इसमें सन्देह नहीं है कि सामान्य जन के लिये यह प्रमाण बहुत विश्वसनीय प्रतीत होता है क्योंकि वह इस विश्व में स्पष्ट रूप से व्यवस्था और प्रयोजन का अनुभव करता है। वह अपने अनुभव के आधार पर यह जानता है कि इस जगत में ऐसी सभी वस्तुओं का कोई बुद्धिमान रचयिता अवश्य होता है जिनमें व्यवस्था, समायोजन तथा प्रयोजन पाये जाते हैं। इसी कारण उसे ईश्वर की सत्ता के लिये उपर्युक्त प्रयोजन मूलक प्रमाण पूर्णतः तर्कसंगत और संतोषजनक प्रतीत होता है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर हम इस मत का समर्थन नहीं कर सकते। वस्तुतः सृष्टिमूलक प्रमाण की भाँति यह प्रयोजन मूलक प्रमाण की तार्किक दृष्टि से बहुत दोषपूर्ण होने के कारण अविश्वसनीय तथा असंतोषजनक है।

प्रयोजनमूलक युक्ति का मूल्यांकन करते समय हम यह देखते हैं कि यह युक्ति मूलतः साम्यानुमान पर ही आधारित है। इसके समर्थक सृष्टि को व्यवस्थित एवं प्रयोजनपूर्ण मानते हुए सृष्टि के रचयिता के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। परन्तु उनका यह साम्यानुमान दोषपूर्ण तथा अयुक्तिसंगत है। इसका कारण यह है कि हमारे पास ऐसे साम्यानुमान के लिये वास्तव में कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। हम सांसारिक वस्तुओं के विषय में अवश्य ही यह कह सकते हैं कि इनका कोई निर्माता है जिसने किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखकर इनका निर्माण किया है, क्योंकि हमने बार—बार मनुष्यों द्वारा इन्हें निर्मित होते देखा है परन्तु ब्रह्माण्ड तथा ईश्वर दोनों ही अद्वितीय अथवा अनन्य हैं और हमने कभी भी ईश्वर को ब्रह्माण्ड की रचना करते हुए नहीं देखा है। ऐसी स्थिति में हम तर्कसंगत रूप से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि ईश्वर ने किसी विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखकर इस ब्रह्माण्ड की रचना की है।

विश्व को अत्यन्त जटिल और विशाल यंत्र मान लेने पर भी इसके सृष्टिकर्ता के रूप में बौद्धिक ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। एक यंत्रकार अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये अनेक सामग्रियाँ एकत्र करता है, यदि ईश्वर को यंत्रकार या रचनाकार मान लिया जाय तो वह सृष्टि की रचना के लिये अनेक प्रकार के भौतिक तत्वों को और अन्य वस्तुओं को एकत्र करेगा। परिणामस्वरूप ऐसा ईश्वर केवल एक शिल्पकार ही रह जायेगा; वह सर्वशक्तिमान और पूर्ण सृष्टिकर्ता नहीं माना जा सकेगा। काण्ट की मान्यता है कि — अधिक से अधिक यह तर्क इतना ही सिद्ध

### 30 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

करता है कि इस विश्व का कोई एक शिल्पकार है जो सामग्रियों को समायोजित करके उनसे अवबाधित अथवा प्रतिबन्धित हो जाता है, न कि विश्व का कोई 'सृष्टिकर्ता', जिसके विचार मात्र से सभी वस्तुएँ नियंत्रित होती हैं।<sup>27</sup>

पुनः विश्व में व्यवस्था के साथ-साथ अनेक अपूर्णताएँ तथा समायोजन की कमियाँ भी हैं जिनकी इसके समर्थक उपेक्षा करते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि सम्पूर्ण विश्व में भूकम्प, बाढ़, आँधी-तूफान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक विपत्तियाँ प्रायः आती रहती हैं जिनके कारण अपार अन्नधन-सम्पत्ति के विनाश के साथ-साथ लाखों निर्दोष मनुष्यों तथा अन्य प्राकृतिक प्राणियों की असामाजिक मृत्यु होती है। संक्षेप में जो कुछ अपराध दुष्टतम लोग जीवन या सम्पत्ति के मामले में करते हैं वही एक बड़े पैमाने पर प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा किया जाता है। यह सब कुछ विश्व की अपूर्णता का स्पष्ट प्रमाण है।<sup>28</sup> विश्व की उपर्युक्त सभी अपूर्णताएँ यह प्रमाणित करती हैं कि इसका कोई बुद्धिमान रचयिता नहीं है।

चार्ल्स डार्विन के विकासवाद और उसके पश्चात् प्राणीशास्त्र में होने वाले वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा निश्चित रूप से यह प्रमाणित हो गया है कि इस धरती पर सभी जीवों की जातियों का विकास कुछ विशेष प्राकृतिक नियमों<sup>29</sup> के आधार पर ही हुआ है। जिनके द्वारा समस्त प्राणियों के विकास की व्याख्या की जा सकती है। इन नियमों के अनुसार जीवों के सभी जातियों में अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए परस्पर निरन्तर संघर्ष चलता रहता है और जो जातियाँ अपने वातावरण के साथ समायोजन के फलस्वरूप इस संघर्ष में विजयी होती हैं वे ही जीवित रहती हैं तथा उन्हीं का विकास होता है; इस संघर्ष में पराजित होने वाली सभी जातियाँ नष्ट हो जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि जीवों की जातियों का विकास अथवा विनाश का कारण ईश्वर या अन्य कोई दैवी शक्ति नहीं अपितु कुछ विशेष प्राकृतिक नियम ही हैं। वस्तुतः जीवों के विकास की व्याख्या के लिये ईश्वर की प्राक्कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि विकासवादी सिद्धान्त के प्राकृतिक नियमों द्वारा यह व्याख्या संतोषप्रद रूप में की जा सकती है।

यदि उपर्युक्त सभी आपत्तियों की उपेक्षा करते हुए यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर ही विश्व का रचयिता है तो भी प्रयोजनमूलक प्रमाण के आधार पर उस ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता जिसे धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक स्वीकार करते हैं। क्योंकि ईश्वरवादियों के मतानुसार ईश्वर सर्वज्ञ; सर्वशक्तिमान; सर्वव्यापक, अत्यन्त दयालु, परमन्यायी, नित्य, असीम तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण है। परन्तु वर्तमान विश्व के आधार पर निश्चय ही ऐसी ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। इसके अतिरिक्त कारण-कार्य नियम के अनुसार हम किसी सीमित

और अपूर्ण कार्य को देखकर उसके आधार पर असीम तथा पूर्ण कारण का तर्कसंगत रूप से अनुमान नहीं लगा सकते। जान विज्डम ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि प्रयोजनमूलक युक्ति न तो निगमनात्मक है और न ही आगमनात्मक है। इसके समर्थक एवं विरोधी दोनों ही अपनी-अपनी अभिवृत्ति के अनुसार घटनाओं को एकत्र करके निष्कर्ष निकालने का प्रयास करते हैं। इन युक्तियों को वस्तुतः युक्ति माना ही नहीं जा सकता, ये अनुनय मात्र है।

### (घ) नीतिपरक प्रमाण –

भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के लिये सृष्टिमूलक और प्रयोजनमूलक प्रमाण के साथ-साथ नीतिपरक प्रमाण को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। भारतीय दर्शन में गौतम, वात्स्यायन आदि नैयायिकों तथा अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक शंकराचार्य एवं पाश्चात्य दर्शन में काण्ट, कार्डिनल न्यूमैन आदि दार्शनिकों ने ईश्वर के सत्ता की समर्थन में यह प्रमाण प्रस्तुत किया है।

इस प्रमाण का आधार मनुष्य का नैतिक अनुभव है जिसकी संतोषप्रद व्याख्या के लिये ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य माना गया है। इस प्रमाण के समर्थकों की मान्यता है कि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये बिना हम अपने नैतिक कर्तव्य, नैतिक मूल्यों तथा उच्चतम और पूर्ण शुभ की समुचित व्याख्या नहीं कर सकते। गौतम, वात्स्यायन, शंकराचार्य आदि ने कर्म-सिद्धान्त की युक्तिसंगत व्याख्या के लिये इस नीति-परक प्रमाण को आवश्यक माना है। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य को उसके शुभ-अशुभ कर्मों का उचित फल अवश्य प्राप्त होना चाहिए। कर्म-सिद्धान्त की यह अनिवार्य माँग है कि संसार के सभी मनुष्यों के साथ न्याय हो, यह कार्य स्वयं मनुष्य अथवा अन्य प्राणी नहीं कर सकता। अतः इस माँग की पूर्ति के लिये ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है क्योंकि असीम शक्ति और ज्ञान से परिपूर्ण ईश्वर ही सभी मनुष्यों को उनके शी-अशुभ कर्मों के अनुसार एक निष्पक्ष न्यायाधीश की भाँति सुख-दुःख प्रदान कर सकता है। इस प्रकार उपर्युक्त भारतीय दार्शनिकों ने कर्म-सिद्धान्त के आधार पर कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है और उनके इस प्रयास को नीतिपरक-प्रमाण की संज्ञा दी जा सकती है।

पाश्चात्य दर्शन में जर्मन दार्शनिक काण्ट ही नीतिपरक प्रमाण के प्रमुख समर्थक है। काण्ट की मान्यता है कि आत्मा तथा ईश्वर दोनों ही मनुष्य के तर्कबुद्धि से परे हैं, अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से तर्कबुद्धि द्वारा इन दोनों के अस्तित्व को प्रमाणित करना सम्भव नहीं है। अपनी इसी मान्यता के कारण उन्होंने ईश्वर के समर्थन में दिये गये सभी परम्परागत प्रमाणों यथा-सृष्टिमूलक, सत्तामूलक, प्रयोजनमूलक आदि का दृढ़तापूर्वक खण्डन किया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि काण्ट ईश्वर की

## 32 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

सत्ता में विश्वास नहीं करते। वस्तुतः वे मानते हैं कि तर्कों अथवा प्रमाणों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, किन्तु मनुष्य के नैतिक अनुभव की संतोषप्रद व्याख्या के लिये इनकी सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है। इसी कारण उन्होंने मनुष्य के संकल्प स्वतंत्र्य के साथ-साथ आत्मा की अमरता और ईश्वर के अस्तित्व को भी नैतिकता की आवश्यक आधारभूत मान्यताओं के रूप में स्वीकार किया है।

काण्ट 'निरपेक्ष नैतिक आदेश' तथा 'कर्तव्य-पालन' के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। उनकी मान्यता है कि मनुष्य को केवल कर्तव्य-चेतना से प्रेरित होकर ही अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए, किसी प्रकार के परिणामों को प्राप्त करने के लिये नहीं। नैतिकता का आदेश 'निरपेक्ष आदेश' है अर्थात् वह किसी अन्य प्रयोजन की पूर्ति का साधन न होकर अपने आप में साध्य है। इसी निरपेक्ष आदेश तथा कर्तव्य के लिये कर्तव्य पालन की चेतना से प्रेरित होकर आचरण करने वाला मनुष्य ही नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट है। ऐसे मनुष्य में ही 'शुभ संकल्प' पाया जाता है जो इस विश्व में एकमात्र स्वतः शुभ है। काण्ट यह मानते हैं कि यद्यपि केवल कर्तव्य-चेतना से प्रेरित होकर ही कर्तव्य का पालन करना मनुष्य के लिये अनिवार्य है, फिर भी नैतिकता के निरपेक्ष आदेश का पालन करने वाले शुभ संकल्प से परिपूर्ण मनुष्य को उसके शुभाचरण के अनुपात में आनन्द अवश्य प्राप्त होना चाहिए। इसका कारण यह है कि अपने शुभाचरण के अनुपात में आनन्द प्राप्त करना नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट मनुष्य का न्यायोचित अधिकार है जो इसे मिलना ही चाहिए।

अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर ही उच्चतम अथवा परम शुभ की व्याख्या करते हुए काण्ट ने यह कहा है कि इसमें शुभ संकल्प के साथ-साथ आनन्द का समावेश होना भी अनिवार्य है। आनन्दरहित शुभ संकल्प को वे स्वतः शुभ के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसे परम शुभ नहीं मानते। शुभ संकल्प के अनुपात में आनन्द के समावेश के फलस्वरूप ही परम शुभ की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य में शुभ संकल्प विद्यमान है उसका जीवन आनन्दमय भी अवश्य होना चाहिए अन्यथा

उच्चतम शुभ की उत्पत्ति असम्भव है।<sup>30</sup> शुभ संकल्प में यह क्षमता नहीं है कि वह स्वयं आनन्द को अपने आप में समाविष्ट कर सके। अतः इसके लिये किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता है और यह शक्ति ईश्वर ही है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके शुभ संकल्प के अनुपात में केवल ईश्वर ही आनन्द प्रदान कर सकता है, स्वयं मनुष्य अथवा किसी अन्य शक्ति के लिये ऐसा करना सम्भव नहीं है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान; शाश्वत तथा सर्वव्यापक होने के कारण केवल ईश्वर ही संसार में सभी व्यक्तियों को सदैव उनके शुभ आचरण के अनुपात में समुचित आनन्द प्रदान करने की क्षमता रखता है। ऐसे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना हम शुभ संकल्प और आनन्द से परिपूर्ण

उच्चतम शुभ की उत्पत्ति की संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते। काण्ट ने वैसे यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्तव्य परायणता और सुख प्राप्ति में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है क्योंकि कर्तव्य परायणता मानव की पारमार्थिकता पर और सुख प्राप्ति उसकी प्रातिभासिकता पर निर्भर होती है।<sup>31</sup> काण्ट के अनुसार व्यावहारिक प्रज्ञा की माँग है कि शुभ और सुख दोनों के बीच समन्वय होना चाहिए। इन दोनों का समन्वय अपने आप नहीं हो सकता क्योंकि दोनों में पर्याप्त विषमता है। अतः इन दोनों का समन्वय ऐसी सर्वोत्कृष्ट सत्ता द्वारा हो सकता है जिसने सम्पूर्ण विश्व को और मानव को ऐसी बुद्धि देकर बनाया है कि वह सम्पूर्ण शुभ की प्राप्ति के लिये प्रयासरत् रहे। यही सत्ता ईश्वर है। इसलिये यदि नैतिकता भ्रांतिपूर्ण न हो और मानव के लिये भ्रामक नहीं कही जाय तो शुभ और सुख के समन्वय के लिये ईश्वर को सर्वोत्कृष्ट सत्ता स्वीकार करना चाहिए।<sup>32</sup> काण्ट ने इसी परिप्रेक्ष्य में ईश्वर को नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार किया है एवं उन्होंने ईश्वर को नैतिक न्यायाधीश की संज्ञा प्रदान की है।<sup>33</sup> काण्ट का मन्तव्य है कि यदि हम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करें और यह माने कि मानव कर्तव्य ईश्वर की आज्ञाएं हैं तो हमें कर्तव्य पालन में प्रेरणा मिलती है। अर्थात् ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लेने से कर्तव्यपरायणता की भावना को प्रश्रय मिलता है।<sup>34</sup> इस प्रकार काण्ट की मान्यतानुसार शुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित न किया जा सके परन्तु व्यावहारिक बुद्धि की माँग के अनुरूप हमें नैतिकता की पूर्व मान्यता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है।

काण्ट द्वारा प्रतिपादित उक्त नीतिपरक प्रमाण को हेस्टिंग्स रैशडल ने वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद के आधार पर प्रस्तुत किया है। वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद में चेतन आत्मा को केन्द्रीय स्थान प्रदान किया जाता है। रैशडल की मान्यता है कि सच्ची नैतिकता का अध्ययन बिना तत्वमीमांसात्मक अध्ययन के सम्भव नहीं है। सच्ची नैतिकता की व्याख्या जड़वाद या प्रकृतिवाद के द्वारा नहीं की जा सकती क्योंकि इन सिद्धान्तों का सम्बन्ध उन घटनाओं से है जिन्हें विवरणात्मक कथन कहा जाता है; परन्तु नैतिक कथन वर्णनात्मक, तथ्यात्मक और विवरणात्मक न होकर आदर्शात्मक, मूल्यात्मक और नियामक होते हैं। नैतिक कथनों का सम्बन्ध क्या है से न होकर 'क्या होना चाहिए' से है। अतः इन आदर्शात्मक नैतिक कथनों की व्याख्या जड़वाद के द्वारा नहीं की जा सकती। जड़वाद मानवीय मूल्यों और आदर्शों को भ्रममात्र मान लेता है।<sup>35</sup>

काण्ट, मार्टिनों एवं रैशडल के अतिरिक्त डेविड एल्टन ट्रब्लड, जे0एच0 कार्डिनल न्यूमैन, डी0एम0 बेली आदि दार्शनिकों ने भी

### 34 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये एक अन्य रूप में यह नीतिपरक प्रमाण प्रस्तुत किया है। इन दार्शनिकों का विचार है कि नैतिक व्यवस्था, नैतिक नियमों तथा मूल्यों की वस्तुनिष्ठता के अलौकिक आधार के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणिकता किया जा सकता है। यदि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न किया जाय तो हम नैतिक नियमों और मूल्यों की सार्थकता एवं वस्तुनिष्ठता की तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर सकते। ट्रब्लड का मत है कि – “वस्तुपरक नैतिक व्यवस्था के अभाव में नैतिक अनुभव निरर्थक है। ईश्वर के अस्तित्व के बिना वस्तुपरक नैतिक व्यवस्था का कोई अर्थ नहीं हो सकता। ..... नैतिक नियम का एक मात्र आधार अतिमानवीय मनस् है। जब हम यह देखते हैं कि मनस् युक्त प्राणियों के अतिरिक्त किसी अन्य प्राणी के लिए इस नियम कोई अर्थ नहीं होता तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका आधार मनस ही है, और जब हम यह देखते हैं कि यह नियम हमारा नहीं हो सकता तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आधार अतिमानवीय है। इसलिए वस्तुपरक नैतिक नियम की स्वीकृति हमें ईश्वर में विश्वास करने के लिए प्रेरित करती है जिसके बिना इस नियम का कोई महत्व नहीं रह जाएगा। यदि हम इस नियम में विश्वास करते हैं तो हमें अनिवार्यतः उन स्थितियों में भी विश्वास करना होगा जो इस नियम को सम्भव बनाती हैं।”<sup>37</sup> इस प्रकार ट्रब्लड ने नैतिक नियमों को व्यक्तिनिष्ठ न मानकर वस्तुनिष्ठ एवं निरपेक्ष माना है और इसी आधार पर ईश्वर की सत्ता की प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

ट्रब्लड के इस मत का पक्षपोषण करते हुए डी0एम0 बेली ने भी नैतिक चेतना के आधार पर ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि “क्या यह कहना आधुनिक संसार में बहुत विरोधाभास पूर्ण है कि ईश्वर में आस्था हमारी नैतिक चेतना का ही भाग है जिसके बिना नैतिक चेतना निरर्थक हो जाती है ?..... या तो हमारे नैतिक मूल्य वास्तविक सत्ता के स्वरूप तथा प्रयोजन के विषय में हमें कुछ बताते हैं अर्थात् हमें धार्मिक विश्वास का आधार प्रदान करते हैं अथवा वे आत्मनिष्ठ हैं और इसलिये निरर्थक है।”<sup>38</sup>

इस प्रकार बेली ने भी हमारी नैतिक चेतना के मूलाधार के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इनके अतिरिक्त कार्डिनल न्यूमैन, एच0डी0 लेविस आदि कुछ अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये लगभग इसी रूप में नीतिपरक प्रमाण को प्रस्तुत किया है। ये सभी दार्शनिक सर्वप्रथम यह मान लेते हैं कि हमारे नैतिक मूल्य तथा नियम निरपेक्ष एवं वस्तुनिष्ठ हैं और हमारी अन्तश्चेतना का स्रोत अनिवार्यतः कोई दैवी या अलौकिक शक्ति है। फिर अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि नैतिक मूल्यों तथा नियमों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठता और

अन्तश्चेतना के गहन प्रभाव की संतोषप्रद तथा युक्तिसंगत व्याख्या करने के लिये ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। इन दार्शनिकों का यह दावा है कि इस नीतिपरक प्रमाण द्वारा हम तार्किक दृष्टि से ईश्वर की सत्ता सिद्ध कर सकते हैं। यद्यपि की काण्ट ने जिस रूप में नीतिपरक प्रमाण प्रस्तुत किया है उसके आधार पर वे ईश्वर के अस्तित्व को तार्किक दृष्टि से प्रमाणित करने का दावा नहीं करते, क्योंकि वे उसे मानवीय तर्क बुद्धि से परे मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना सम्भवतः अनुचित न होगा कि ट्रैल्लड, वेली आदि दार्शनिक ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए इस नीतिपरक प्रमाण की प्रभावशीलता और विश्वसनीयता के सम्बन्ध में काण्ट की अपेक्षा कहीं अधिक आश्वस्त है।

अभी तक नीतिपरक प्रमाण के स्वरूप तथा उसके कुछ प्रमुख समर्थकों के मत की व्याख्या प्रस्तुत की गयी। अब यहाँ हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि यह प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में कहाँ तक समर्थ है। यह सत्य है कि कुछ भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक ईश्वर सम्बन्धी विश्वास के लिये इस प्रमाण को बहुत महत्व देते हैं। काण्ट ने तो इस नीतिपरक प्रमाण को ही ईश्वर विषयक विश्वास का एक मात्र आधार मानते हैं परन्तु वास्तव में अन्य प्रमाणों की भाँति यह प्रमाण भी तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर पाता। अतः इस प्रमाण के विरुद्ध भी अनेक गम्भीर आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं जिनमें से कुछ निम्नवत् हैं।

सर्वप्रथम नीतिपरक युक्ति वास्तविक अर्थ में 'प्रमाण' नहीं प्रतीत होती है क्योंकि यह कुछ ऐसी मान्यताओं पर आधारित है जिन्हें तार्किक दृष्टि से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसके प्रमुख समर्थक काण्ट स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि इसका मूल आधार तर्क न होकर आस्था ही है। अपनी आस्था के कारण ही हम यह मान लेते हैं कि शुभ संकल्प तथा आनन्द के समावेश के फलस्वरूप परम शुभ की उत्पत्ति के लिये किसी दैवी शक्ति अर्थात् ईश्वर का होना आवश्यक है। परन्तु इस मान्यता से वस्तुतः यह प्रमाणित नहीं होता कि ईश्वर का अस्तित्व है। यदि कोई व्यक्ति काण्ट के निरपेक्ष आदेश सम्बन्धी नैतिक नियम को स्वीकार नहीं करे तो यह स्पष्ट है कि उसके लिये इस सिद्धान्त पर आधारित उनके नीतिपरक प्रमाण का कोई महत्व नहीं हो सकता। उसे यह मानने के लिये तर्कसंगत रूप से बाध्य नहीं किया जा सकता कि ईश्वर ही शुभ संकल्प के साथ समुचित आनन्द का समावेश करके परम शुभ को उत्पन्न करने में समर्थ है। ऐसा व्यक्ति कोई तार्किक भूल किये बिना ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह कर सकता है अथवा उसे अस्वीकार कर सकता है। ईश्वर के प्रति उसके इस दृष्टिकोण को नीतिपरक प्रमाण द्वारा अयुक्तिसंगत सिद्ध नहीं किया जा सकता। काण्ट स्वयं इस तथ्य से भली-भाँति अवगत है और इसे स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। अपने नीतिपरक प्रमाण की वस्तुनिष्ठता का निषेध

### 36 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

करते हुए स्वयं कहते हैं कि “यह नीतिपरक तर्क ईश्वर के अस्तित्व के लिये कोई ‘वस्तुनिष्ठ रूप से प्रमाणिक’ प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता, यह संदेहवादी के लिये इस बात को प्रमाणित नहीं करता कि ईश्वर है किन्तु यह इस बात को प्रमाणित करता है कि यदि वह नैतिकता के दृष्टिकोण से विचार करना चाहता है तो उसे अपनी व्यावहारिक तर्कबुद्धि के नियमों के अनुरूप इस कथन से सम्बन्धित ‘मान्यता’ को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वर का अस्तित्व है।..... इस प्रकार यह एक व्यक्तिनिष्ठ तर्क है जो नैतिकता को स्वीकार करने वाले मनुष्यों के लिए प्रभावशील है।<sup>39</sup>

सम्भवतः काण्ट द्वारा प्रस्तुत नीतिपरक प्रमाण की उपर्युक्त कठिनाई के कारण ही ट्रब्लड, बेली आदि दार्शनिकों ने इसे भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं। वे नैतिक नियमों तथा मूल्यों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठा के आधार पर ही इनके मूल स्रोत के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। परन्तु जिस रूप में उन्होंने यह नीतिपरक प्रमाण प्रस्तुत किया है वह भी तर्कसंगत और विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। सर्वप्रथम उन्होंने यह मान लिया है कि मानवीय आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा अनुभवों के आधार पर नैतिक नियमों और मूल्यों की प्रकृतिवादी व्याख्या नहीं की जा सकती। वस्तुतः समस्त नैतिक मूल्यों एवं नियमों की व्याख्या इस तथ्य के आधार पर की जा सकती है कि मनुष्य अनिवार्यतः एक सामाजिक प्राणी है और इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अन्य व्यक्तियों के जीवन पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि मानव का सामाजिक जीवन ही नैतिकता का मूल स्रोत है, क्योंकि सामाजिक जीवन से पृथक मनुष्य के लिये नैतिकता का कोई अर्थ और महत्व नहीं हो सकता। यदि नैतिकता के सम्बन्ध में इस प्रकृतिवाद अथवा सामाजिक दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाय तो नैतिक मूल्यों तथा नियमों की वस्तुनिष्ठता की व्याख्या करने के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। हम मनुष्य के सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के आधार के रूप में इन मूल्यों और नियमों की वस्तुनिष्ठता की तर्कसंगत व्याख्या कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद तथ्य नहीं है कि नैतिक मूल्य तथा नियम वास्तव में वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष हैं। बहुत से दार्शनिक इन्हें सापेक्ष और व्यक्तिनिष्ठ प्रमाण का आधार ही समाप्त हो जाता है जिस रूप में ट्रब्लड, बेली आदि दार्शनिकों ने इसे प्रस्तुत किया है।

ईश्वरवादी दार्शनिकों की यह मान्यता भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती कि—‘हमारी अन्तश्चेतना की ध्वनि ईश्वर का आदेश है और अन्तश्चेतना के स्रोत के रूप में ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है।’<sup>40</sup> वस्तुतः नैतिक नियमों तथा मूल्यों की भांति हमारी अन्तश्चेतना की व्याख्या भी मनुष्य के सामाजिक जीवन के आधार पर ही की जा सकती है। इसके



लिये ईश्वर या अन्य किसी दैवी शक्ति की प्राक्कल्पना की आवश्यकता नहीं है। हम जिसे अपनी अन्तश्चेतना या अन्तरात्मा कहते हैं और जिसके आदेश को इतना अधिक महत्व देते हैं उसका मूल स्रोत हमारे उन स्थायी एवं गहरे संस्कारों में खोजा जा सकता है जो हमारे माता-पिता; अभिभावक, शिक्षक तथा अन्य व्यक्ति अपने आचरण और उपदेशों द्वारा शैशव काल से ही हमारे मन में उत्पन्न करते हैं। इन पारिवारिक तथा सामाजिक संस्कारों से उत्पन्न अन्तश्चेतना बाद में वयस्क होने पर हमें 'ईश्वर की ध्वनि' प्रतीत होने लगती है जिसके आदेशों का उल्लंघन करना हमारे लिये असम्भव हो जाता है। परन्तु वास्तव में यह अन्तश्चेतना उस समाज की ही ध्वनि है जिसमें हमने जन्म लिया है और जिसमें हमारा पालन पोषण हुआ है। यही कारण है कि विरोधी सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराओं में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों की अन्तश्चेतना उन्हें परस्पर विरोधी आदेश देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिकता का आधार ईश्वर या अन्य कोई दैवी शक्ति न होकर मनुष्य का सामाजिक जीवन ही है जिसके अभाव में उसके लिये नैतिकता का कोई अर्थ नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में नैतिक अवधारणाओं की आख्या के लिए ईश्वर की प्राक्कल्पना अनावश्यक है। अतः अन्य प्रमाणों की भांति नीतिपरक प्रमाण भी तर्कसंगत रूप से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में सफल नहीं है।

#### (ड.) धार्मिक अनुभूति सम्बन्धी प्रमाण -

धर्मशास्त्र एवं धर्म में धार्मिक अनुभूति का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसके अन्तर्गत रहस्यानुभूति, श्रुति-प्रकाश तथा अयौक्तिक एवं आलौकिक अनुभूति को भी समाविष्ट किया जाता है। नैतिक अनुभव की भांति धार्मिक अनुभूति के आधार पर भी ईश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। सन्त प्लॉटिनस से लेकर विलियम जेम्स और डब्ल्यूटी० स्टेस तक ईश्वरवादी दार्शनिकों रहस्यवादियों, सन्तों, पैगम्बरों की एक लम्बी श्रृंखला है जिन्होंने विशिष्ट धार्मिक अनुभूति, अलौकिक अन्तःअनुभूति और दिव्य अनुभूति के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रदर्शित किया है। समकालीन धर्मदार्शनिकों एवं विचारकों में भी डब्ल्यू०आर० इन्ज, इब्लिन अण्डरविल, जोन्स, वर्गसाँ, रडोल्फ ऑटो, जॉन वेली आदि दार्शनिकों ने भी धार्मिक अनुभूति के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

अनेक धर्मदार्शनिकों ने रहस्यानुभूति को धार्मिक अनुभूति की चरम परिणति मानते हुए इसे ईश्वर की साक्षात् अनुभूति का प्रबल साधन माना है। रहस्यवादी यह मानते हैं कि भक्त ईश्वर में इतना निगमन हो जाता है कि वह ईश्वर में स्वयं को विलीन समझता है। स्मरणीय है कि ईश्वरवादी ईश्वर को पूर्ण परम पवित्र, मानवेत्तर, विश्वेत्तर और शुभ मानता है, ऐसी स्थिति में वह मनुष्य के ईश्वर के साथ साक्षात्कार को सिद्धान्तः स्वीकार नहीं कर सकता है। इसके बावजूद डीन इन्ज, इब्लिन अण्डरविल, रूफस जोन्स

## 38 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

इत्यादि ने रहस्यात्मक अनुभूति को ईश्वर के साक्षात्कार का सशक्त साधन माना है। अनेक धर्मदार्शनिकों ने रहस्यानुभूति के माध्यम से ईश्वर के साक्षात्कार को ईश्वर की दिव्य अनुभूति के रूप में चित्रित किया है जो अवर्णनीय, अवक्तव्य और अनिर्वचनीय है। क्योंकि इस दिव्य अनुभूति को लौकिक भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

हेनरी वर्गसाँ के अनुसार—रहस्यवाद का अन्तिम लक्ष्य है कि इसके द्वारा ईश्वर के साथ ऐसा सम्पर्क स्थापित किया जाय कि उसके साथ आंशिक रीति से आत्मसात होकर व्यक्ति उसी प्रकार सक्रिय और सर्जनात्मक हो जाय जिस प्रकार स्वयं ईश्वर है।<sup>41</sup> अर्थात् पूर्ण रहस्यवाद में सक्रियता सर्जनात्मकता तथा प्रेम रहना चाहिए। वर्गसाँ पुनः कहते हैं कि सृष्टि का परम उद्देश्य ही यही है कि मानव अंत में रहस्यवाद की सहायता से ईश्वर के समान देवत्व को प्राप्त करें।<sup>42</sup>

विलियम जेम्स ने रहस्यवादी अनुभूति के चार लक्षणों—अनिर्वचनीयता, प्रज्ञानात्मकता अथवा बौद्धिकता, क्षणभंगुरता तथा निष्क्रियता—का उल्लेख करते हुए कहता है कि एक रहस्यवादी ईश्वर की उपस्थिति का या अन्य अलौकिक अनुभूति का जो अनुभव करता है उसे लौकिक भाषा के रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ऑटो का कथन है कि रहस्यवादी अनुभूति अनूठी अथवा अनुपम है और शब्दों के माध्यम से इसे प्रकट नहीं किया जा सकता है। उनके अनुसार धार्मिक अनुभूति अत्यन्त सरलतम और प्राथमिक होती है।<sup>43</sup> वेली ने स्वयं अपने अनुभूति के आधार पर बताया है कि ईश्वर के साक्षात्कार का अनुभव समस्त तर्कों से परे है।<sup>44</sup> इसी प्रकार फर्मर का कथन है कि जिन्हें ईश्वर का भान नहीं हुआ है उन्हें ईश्वर को विवरण द्वारा बताना, उसकी व्याख्या करना सम्भव नहीं है। ईश्वर की अनुमति को उद्घोषित किया जा सकता है जिससे कि अन्य व्यक्ति स्वयं ईश्वर का साक्षात्कार कर सकें।<sup>45</sup> उपरोक्त सभी रहस्यवादी विचारकों ने धार्मिक अनुभूति को शब्द, बुद्धि तथा प्रत्यायों से परे तथा अयौक्तिक माना है। यह ऐसी प्राथमिक अनुभूति है कि इसे सरलतम तथा अभेदित कहा है। डब्लू0टी0 स्टेस का कथन है कि परमसत्ता स्वयं इस प्रकार की है कि बिना परस्पर विरोधी शब्दों के इसे बतलाया नहीं जा सकता है।<sup>46</sup>

रहस्यात्मक अनुभूति की अनिर्वचनीयता को स्पष्ट करते हुए वर्गसाँ और सैमुअल अलेक्जेंडर ने कहा है कि रहस्यात्मक अनुभूति में भक्त स्वयं परमसत्ता बन जाता है, इसलिये ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रह जाता है। भक्त द्वारा परमसत्ता का साक्षात् आस्वादान करने पर उसे परम सत्ता के अस्तित्व में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता है। रहस्यवाद वस्तुतः अस्तित्व

की स्थिति है, न कि ज्ञान की, इसलिए रहस्यवादी मौन हो जाता है। रहस्यवादियों ने रहस्यात्मक अनुभूति को स्वतः सिद्ध या स्वतः प्रमाण कहा है। युंग महोदय की मान्यता है कि दुनियाँ जो भी कहे पर वह अनुभूति जिससे भक्तों को अनुप्रेरणा मिलती है और जिससे समस्त मानव जाति के अर्थपूर्ण जीवन तथा कल्याण का संदेश मिलता है, अवश्यमेव मूल्यों का बहुत बेशकीमती खजाना है।<sup>47</sup>

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि ईश्वरवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किया गया धार्मिक अनुभव सम्बन्धी तर्क वस्तुतः ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में समर्थ है अथवा नहीं। यह सत्य है कि प्राचीन काल से ही बहुत से धर्म परायण व्यक्ति इस तर्क की प्रभावशीलता और विश्वसनीयता में असंदिग्ध रूप से विश्वास करते रहे हैं, परन्तु ईश्वर की सत्ता के समर्थन में दिये गये अन्य तर्कों की भाँति इस तर्क के विरुद्ध भी अनेक गम्भीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिसे हम निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं।

सर्वप्रथम हम देखते हैं कि धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण के समर्थक धर्मपरायण व्यक्तियों के धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि 'धार्मिक अनुभूति' से उनका तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में वे प्रायः सही कहते हैं कि धार्मिक अनुभूति ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव है जिससे ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है। परन्तु इन दार्शनिकों का यह उत्तर वास्तव में युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि इसमें ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के स्थान पर उसे पहले से ही स्वीकार कर लिया गया है। ईश्वरवादी दार्शनिक बिना किसी प्रमाण के पहले से ही मान लेते हैं कि ईश्वर है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव धर्म परायण व्यक्तियों को होता है। उनका तर्क यह है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व न होता तो धर्मपरायण व्यक्तियों को उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता था, क्योंकि हम केवल उसी वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं जिसका वास्तव में अस्तित्व है। परन्तु इन दार्शनिकों का यह तर्क भ्रामक और दोषपूर्ण है। क्योंकि हमारे पास उनके इस दावे को स्वीकार करने का कोई विश्वसनीय तथा तर्कसंगत आधार नहीं है कि धर्मपरायण व्यक्तियों को जो धार्मिक अनुभव प्राप्त होता है वह वस्तुतः 'ईश्वर का अनुभव' है। यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि इन व्यक्तियों को एक विशेष प्रकार का मानसिक अनुभव प्राप्त होता है जो निरीश्वरवादियों को प्राप्त नहीं होता। परन्तु यह तथ्य केवल इतना ही सिद्ध करता है कि धार्मिक अनुभव एक विशेष प्रकार की मनोदशा है जिसका धर्मपरायण व्यक्ति अनुभव करते हैं। किन्तु उनकी इस मनोदशा से यह बिल्कुल प्रमाणित नहीं होता कि उनके अपने मन से पृथक और स्वतंत्र किसी वाह्य वस्तु का अस्तित्व है।

## 40 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

जैसे—मानसिक रोग से ग्रस्त कोई व्यक्ति अपने कमरे में बैठकर विभ्रम के कारण रेलगाड़ी या घोड़ों के दौड़ने की ध्वनि का प्रत्यक्षतः अनुभव कर सकता है, किन्तु उसके इस अनुभव से यह सिद्ध नहीं होता कि वहाँ वास्तव में रेलगाड़ी चल रही है अथवा घोड़े दौड़ रहे हैं। ठीक यही बात धर्मपरायण व्यक्तियों के तथाकथित ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष अनुभव के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस प्रकार धर्मपरायण व्यक्तियों का धार्मिक अनुभव केवल व्यक्तिनिष्ठ मनोदशा होने के कारण वस्तुपरक रूप से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में असमर्थ है। धर्मपरायण व्यक्तियों का धार्मिक अनुभव समान रूप से ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव है, जिसके आधार पर एक सर्वमान्य ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है। प्राचीन काल से वर्तमान युग तक विभिन्न धर्मों का इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि देश, काल, संस्कृति तथा धर्म की भिन्नता के कारण धर्मपरायण व्यक्तियों के ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव एक दूसरे से केवल भिन्न ही नहीं अपितु परस्पर विरोधी भी रहे हैं। उदाहरणार्थ—ईसाइयों का धार्मिक अनुभव यह बताता है कि ईश्वर दयालु तथा प्रेममय है जबकि यहूदियों का धार्मिक अनुभव यह कहता है कि ईश्वर क्रोधी और प्रतिशोध लेने वाला है। इतना ही नहीं एक ही धर्म को मानने वाले व्यक्तियों के ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव भी परस्पर विरोधी दिखायी देते हैं। उदाहरण के लिये वैष्णव दर्शन के विशिष्टा द्वैतवाद को स्वीकार करने वाले हिन्दू ईश्वर को सगुण, साकार तथा व्यक्तित्व सम्पन्न मानते हैं, इसके विपरीत शंकराचार्य के अद्वैतवाद का समर्थन करने वाले हिन्दू केवल निर्गुण और निराकार ब्रह्म में ही विश्वास करते हैं। इनके अनुसार परमार्थिक दृष्टि से सगुण तथा साकार ईश्वर की सत्ता मिथ्या है। इसी प्रकार सनातन धर्म के समर्थक अनेक देवी-देवताओं में विश्वास करते हैं जबकि आर्य समाज के अनुयायी केवल एक ही ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर के स्वरूप के विषय में ये सभी परस्पर विरोधी मत धर्मपरायण व्यक्तियों के अपने-अपने धार्मिक अनुभवों पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिये तर्कसंगत रूप से यह निर्णय करना असम्भव हो जाता है कि इन विरोधी मतों में से कौन सा मत सत्य और कौन सा मिथ्या है। वस्तुतः इस बात का निर्णय करने के लिये हमारे पास कोई विश्वसनीय और वस्तुपरक कसौटी नहीं है, क्योंकि सभी धर्मपरायण व्यक्तियों के ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव पूर्णतः आत्मनिष्ठ हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ धर्मपरायण व्यक्तियों के धार्मिक अनुभव में ईश्वर के लिये कोई स्थान ही नहीं है। बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि निरीश्वरवादी धर्मों के अनुयायियों को भी धार्मिक अनुभव प्राप्त होता है किन्तु वे किसी प्रकार के ईश्वर का अनुभव नहीं करते। अतः यदि उनके धार्मिक अनुभव को सत्य माना जाय तो इससे यही प्रमाणित होता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। संसार में

निरीश्वरवादी धर्मों के अनुयायियों की संख्या भी अत्यधिक है जिनका धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध प्रमाण प्रस्तुत करता है। गौतम बुद्ध, महावीर, कम्प्यूशियस आदि अनेक महान विचारकों ने भी अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व का निषेध किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निरीश्वरवादी धर्मों के अनुयायियों का धार्मिक अनुभव ईश्वरवादियों के धार्मिक अनुभव के ठीक विपरीत है और ये दोनों ही अपने-अपने धार्मिक अनुभव को पूर्णतः सत्य तथा प्रमाणिक मानते हैं। परन्तु हमारे पास ऐसी कोई विश्वसनीय एवं वस्तुपरक कसौटी नहीं है जिसके आधार पर हम तर्कसंगत रूप से यह निर्णय कर सकें कि इन दोनों परस्पर विरोधी धार्मिक अनुभवों में कौन सा अनुभव सत्य है और कौन सा मिथ्या।

पुनः ईश्वरवादी दार्शनिकों के मत में ईश्वर एक अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता है जो मनुष्य के तर्क शक्ति और ज्ञान से परे है, वह कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं है। अतः उसे भौतिक वस्तुओं की भांति मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता। हम उस अर्थ में ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते जिस अर्थ में हम अपनी भावनाओं अथवा मनोदशाओं को प्रत्यक्षतः जानते हैं क्योंकि ईश्वर कोई प्रत्यय, भावना या मनोदशा नहीं बल्कि एक वस्तु परक सत्ता है जो मनुष्य के मन से पूर्णतः पृथक् तथा स्वतंत्र है। किन्तु ऐसी स्थिति में यह समझना अत्यन्त कठिन है कि 'ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुभव' का क्या अर्थ हो सकता है। यदि ईश्वर वास्तव में अलौकिक और अनुभवातीत सत्ता है जैसा कि ईश्वरवादी मानते हैं तो मनुष्य के लिए किसी भी अर्थ में इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना नितांत असम्भव है। परन्तु ईश्वरवादी दार्शनिक एक ओर तो ईश्वर को अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता मानते हैं और दूसरी ओर यह दावा भी करते हैं कि

— 'बहुत से धर्मपरायण व्यक्तियों को उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता है।'<sup>48</sup>

इन दोनों परस्पर विरोधी बातों को एक साथ स्वीकार करने के फलस्वरूप इन दार्शनिकों के विचारों में गम्भीर स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाता है, जो उनके धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण को अत्यन्त दुर्बल एवं अविश्वसनीय बना देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक संदर्भ में भले ही धार्मिक अनुभूति सम्बन्धी प्रमाण को सही और उचित माना जाय, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी सत्यता को स्थापित नहीं किया जा सकता है।

**निष्कर्षः—**

ईश्वर की सत्ता के समर्थन में दिये गये प्रमाणों की विवेचना से स्पष्ट है कि सभी प्रमाण तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण होने के कारण विश्वसनीय नहीं है। प्रत्यय—सत्ता युक्ति को छोड़कर अन्य सभी प्रमाण किसी न किसी रूप में मनुष्य के अपने अनुभव पर ही आधारित हैं। परन्तु ईश्वर को अनुभवातीत माना जाता है जिसका अर्थ यह है कि वह कभी भी मानवीय अनुभव का विषय नहीं हो सकता और इसी कारण किसी भी अनुभवाश्रित

## 42 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

प्रमाण द्वारा इसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में जब किसी अनुभवाश्रित प्रमाण द्वारा अनुभवातीत ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है तो उस प्रमाण में तार्किक दोषों का आना अनिवार्य है। वस्तुतः इसी कठिनाई से बचने के उद्देश्य से ही कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के लिये प्रत्यय-सत्ता युक्ति प्रस्तुत की है जिसका एक मात्र आधार पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय है और जिसका मानवीय अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह युक्ति भी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में पूर्णतः असमर्थ है क्योंकि केवल प्रत्यय के आधार पर किसी वस्तु के वास्तविक अस्तित्व को प्रमाणित करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार कोई भी प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व से संबंधित विश्वास को तर्कसंगत रूप से सत्य प्रमाणित नहीं कर पाता जिससे हम अनिवार्यतः यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ईश्वर वास्तव में प्रमाण या तर्क का विषय नहीं है।

उल्लेखनीय है कि केवल भक्त अथवा धर्मपरायण व्यक्ति ही नहीं, अपितु अनेक महान दार्शनिक भी ईश्वर के सम्बन्ध में इसी निष्कर्ष को स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, इस सम्बन्ध में जॉन हिक का यह कथन द्रष्टव्य है—“इस विवेचना से स्पष्ट है कि ईश्वर सम्बन्धी प्रमाणों के विषय में लेखक का अपना निष्कर्ष नकारात्मक है। जिन युक्तियों की हमने परीक्षा की है उनमें कोई भी युक्ति उस व्यक्ति के मन में ईश्वर विषयक विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ प्रतीत नहीं होती जो ईश्वर में विश्वास नहीं

करता।”<sup>49</sup> ईश्वर सम्बन्धी समस्त युक्तियों के विषय में स्वयं ईश्वरवादी दार्शनिक का यह नकारात्मक निष्कर्ष इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि वस्तुतः किसी भी युक्ति अथवा प्रमाण द्वारा तर्क संगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना सम्भव नहीं है किन्तु इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि ईश्वर की सत्ता अप्रमाणित हो सकती। इस सम्बन्ध में काण्ट का मत ही उचित प्रतीत होता है कि आत्म-चेतन बुद्धि तर्क की सीमाओं को निर्धारित करके ईश्वर को तर्कसंगत आस्था के क्षेत्र में सुरक्षित स्थापित कर देती है। काण्ट का कथन है कि — “आस्था के लिये स्थान बनाने के उद्देश्य से ही मैंने ईश्वर विषयक ज्ञान का खण्डन किया है” परन्तु यहाँ मूल प्रश्न यह है कि आस्था के आधार पर हम जिस ईश्वर में विश्वास करते हैं क्या उसका हमारे मन से स्वतंत्र कोई वस्तुपरक अस्तित्व है। काण्ट के नीतिपरक प्रमाण से सम्भवतः यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे ईश्वर के वस्तुपरक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। परन्तु ईश्वर के विषय में उनके कुछ कथनों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वयं भी ईश्वर के वस्तुपरक अस्तित्व को अत्यन्त संदेहास्पद मानते हैं। जैसे—ईश्वर को मनुष्य का मानसिक प्रत्यय मात्र मानते हुए वे कहते हैं कि ‘ईश्वर मुझसे बाहर कोई सत्ता नहीं है, अपितु वह मेरे भीतर एक विचार मात्र है। ईश्वर आत्मारोपित नैतिक नियमों से संबंधित व्यावहारिक तर्कबुद्धि है।’<sup>50</sup>

सन्दर्भ:-

1. डॉ० भूपेन्द्र कुमार मोदी, 'एक ईश्वर', नई दिल्ली ' भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, 1999, पृ०-25
2. वही, पृ०-25
3. विस्तार के लिए अवलोकन करें-ए०जे०एयर-'लैंग्वेज ट्रुथ एण्ड लॉजिक', लंदन : विक्टर गोलेंज लि०, 1946
4. थियोडोर एम० लुडविंग, 'मोनोथीइज्म', 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन' खण्ड-10, पृ०-69-70
5. अरस्तू, 'मेटोफिजिक्स' 1974, बी, 33, सं० एवं अनु० जॉन वारिंगटन, एवरी मैन्स लाइब्रेरी न्यूयार्क।
6. अरस्तू, 'निकोमेकियन ऐथिक्स'-1178-बी, 7-23, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन
7. ए०ई०टेलर, 'थीठजम' 'एन्साइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स' खण्ड-12, पृ०-264
8. टॉमस एक्वीनास-'सम्मा थिर्योलॉजिका'-1, 2, 2, अनु० एन्टन सी० पेगिस, रेण्डम हाउस न्यूयार्क 1948
9. संत एन्सेल्म-प्रोस्लोजियन-उदधृत-ऐन इन्द्रोडक्शन टू दि फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन-ब्रेन डेविस, पृ० 26-27
10. देकार्त-मेडिटेशन V उदधृत-'गॉड एण्ड रीजन'-सं० मिलर पृ०-28-29
11. 'गॉड एण्ड रीजन'-सं०-मिलर, पृ० 28, एलेन एण्ड अनविन, लंदन
12. वही, पृ०-29
13. काण्ट-'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' अनु०-एन०के० स्मिथ, पृ०-505, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लंदन 1929
14. वही, पृ० 506
15. मेटाफिजिक्स-999 B, सं० एवं अनु० जॉन वारिंगटन, वरी मैन्स लाइब्रेरी, न्यूयार्क।
16. रिचर्ड टेलर-मेटाफिजिक्स, पृ०-93, ईंगलवुड क्लिफ्स एन०जे०, प्रन्टिस हाल इंक 1963
17. पी० एडवर्ड्स और पैप-ए मार्डन इण्ट्रोडक्शन टु फिलॉसॉफी, पृ० 474, फ्री प्रेस ऑफ ग्लेन्को इंक 1965, न्यूयार्क
18. द्रष्टव्य-आचार्य उदयन, 'न्याय कुसुमंजलि', विद्याभवन चौखम्भा, वारायासी
19. रसेल एण्ड कोपल्सटन-ए'डीवेट आन एक्विस्टेन्स ऑफ गॉड', पृ० 175
20. एडवर्ड्स एण्ड पैप, ए मार्डन इण्ट्रोडक्शन टु फिलॉसॉफी, पृ०-380, फ्री प्रेस ऑफ ग्लेन्को इंक 1965, न्यूयार्क
21. इमैनुअल काण्ट-'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' अनु०-एन०के० स्मि पृ०-511, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लंदन 1929
22. राइकेनबाक 'दि राइज ऑफ साइण्टिफिक फिलॉसॉफी', पृ०-207-208, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 1951
23. विलियम पैली-'नेचुरल थियोलॉजी : ऐन इंट्रोडक्शन टू दी फिलॉसाफी ऑफ रिलिजन-ब्रेन डेविस, पृ०-51
24. जेम्स मार्टिनो-'ए स्टडी ऑफ रिलिजन' I पृ०-247, 291-294
25. एफ०आर० टेनेण्ट-'फिलॉसॉफिकल थियोलॉजी' II पृ०-86
26. ए०आई० ब्राउन-'फुट प्रिंट्स ऑफ गॉड', पृ०-102

## 44 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

27. काण्ट 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन', पृ0 296 अनु0 एन0के0 स्मिथ, मैकमिलन एण्ड कम्पनी लंदन 1929 (रिप्रिन्ट 1970)
28. जे0एस0 मिल 'थ्री एसेज ऑन 'नेचुरल रिलिजन', पृ0-28-30 लांगमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी लि0, लंदन 1865
29. 'प्राकृतिक चयन का नियम' एवं 'योग्यतम की उत्तरजीविता का नियम।'
30. काण्ट 'गॉड एज ए पॉस्टुलेट ऑफ प्रेक्टिकल रीजन', पृ0-138
31. काण्ट 'क्रिटिक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन' अनु0-लेविस ह्वाइट बीक, पृ0-12
32. वही पृ0-13
33. वही, पृ0-13
34. कालिन्स-गॉड इन मार्डन फिलॉसॉफी, यूनिवर्सिटी ऑफशिकागो प्रेस
35. रैशडल-'द थियरी ऑफ गुड एण्ड ईविल-', पृ0-146 आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1924
36. वही, पृ0-147
37. डेविड एल्टन ट्रब्लड-'फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन' पृ0-114-115
38. डी0एम0 बेली-'फेथ इन गॉड एण्ड इट्स क्रिश्चियन कन्ज्यूमेशन' पृ0-172-173
39. काण्ट-'सलैक्शन्स' सम्पादक ग्रीन, पृ0-514
40. जे0एच0 कार्डिनल न्यूमैन 'ए ग्रामर ऑफ एसेन्स', पृ0-83-84
41. हेनरी वर्गसॉ-'दि टू सोर्स ऑफ मोरैलिटी एण्ड रिलिजन', पृ0-188 मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लंदन।
42. वही, पृ0-275
43. ऑटो-'दि आइडिया ऑफ दि हॉली', पृ0-7
44. वेली-'अवर नॉलेज ऑफ गॉड', पृ0-32
45. फर्मर-'टूवार्ड्स विलिफ इन गॉड' पृ0-40
46. डब्लू टी0 स्टेस-मिस्टीसिज्म एण्ड फिलॉसॉफी, पृ0-57 जे0वी0 लिपिनकॉट कम्पनी फिलाडेल्फिया
47. युंग-साइकॉलॉजी एण्ड रिलिजन, पृ0-33
48. डेविड एल्टन ट्रब्लड-'फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन', पृ0-144
49. जॉन हिंक 'फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन' ईगलवुड क्लिप्स, एन0जे0 प्रेन्टिस हाल, इंक 1962, पृ0-30
50. इमैनुअल काण्ट, 'सलैक्शन्स' सं0 ग्रीन, पृ0-673



## अध्याय-2 : ईश्वरवाद के निहितार्थ

- (क) ज्ञानमीमांसीय निहितार्थ
- (ख) नैतिक एवं समाजशास्त्रीय निहितार्थ



## ईश्वरवाद के निहितार्थ

विज्ञान सम्मकमत अनीश्वरवाद की विवेचना करने से पूर्व प्रस्तुत अध्याय में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में ईश्वरवाद की क्या भूमिका हो सकती है। ईश्वर का विचार केवल सैद्धान्तिक प्रत्यय नहीं है। यह मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर बहुत गहरा तथा व्यापक प्रभाव रखता है। ऐसी स्थिति में इस प्रश्न का विशेष महत्व है कि ईश्वर विषयक विश्वास व्यावहारिक दृष्टि से मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर क्या और किस प्रकार का प्रभाव डालता है या डाल सकता है। यहाँ इस प्रश्न के सन्दर्भ में ही चर्चा प्रस्तुत की जायेगी।

### (क) ज्ञानमीमांसीय निहितार्थ

यहाँ दार्शनिक दृष्टि से हमारे समक्ष मूल समस्या यह है कि ज्ञान कैसे सम्भव तथा वैध होता है। ज्ञान का स्रोत, सीमा एवं उसकी वैधता का आधार क्या है ? देकार्त का मानना है कि मानवीय बुद्धि के पास यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है एवं साथ ही बुद्धि के पास यथार्थ ज्ञान की अयथार्थ ज्ञान से पृथक करने की कसौटी भी विद्यमान है। देकार्त कहता है कि "संसार की सभी सुन्दर वस्तुओं में से सबसे सुन्दर बुद्धि का ही सबसे अधिक समान वितरण है। सुन्दर बुद्धि का अर्थ है अच्छे ढंग से निर्णय करने की और सत्य तथा असत्य का विवेक करने की शक्ति। यह सभी मनुष्यों में

प्रकृतितः एक समान है।"<sup>1</sup> इसी को वह बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश कहता है। इस बुद्धि में दो व्यापार है—अन्तः प्रज्ञा और निगमन।

बुद्धि के निर्देश के नियम में अंतः प्रज्ञा को परिभाषित करते हुए देकार्त लिखते हैं कि "अन्तः प्रज्ञा से हमारा तात्पर्य न तो इन्द्रियों के अस्थिर साक्ष्य से है और न इस भ्रामक निर्णय से है जो दोषपूर्ण कल्पना विधान से उत्पन्न होता है वरन् उस धारणा से है जिसे विशुद्ध और सावधान बुद्धि इतनी तत्परता और सुभिन्नता से हमें प्रदान करती है कि उसके विषय में कोई सन्देह या अनिश्चितता नहीं रह जाती है।"<sup>2</sup>

इस प्रकार अन्तः प्रज्ञा एक बौद्धिक दर्शन है, यह स्पष्ट ज्ञान है। यह न तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और न काल्पनिक ज्ञान ही। प्रत्यक्ष तथा कल्पना स्वतः प्रामाणिक नहीं होते पर अन्तः प्रज्ञा स्वयं प्रकाश तथा स्वतः प्रामाणिक होता है। अन्तः प्रज्ञा से हम कभी—कभी किसी भौतिक वस्तु को जानते हैं और कभी वस्तुओं के सम्बन्ध को। अन्तः प्रज्ञा वास्तव में विशुद्ध तथा सावधान बुद्धि के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष है जो इतना सरल तथा सुबोध होता है कि उसके विषय में सन्देह की तनिक भी गुंजाइश नहीं रहती। यह अकाट्य तथा असंदिग्ध है। अन्तः प्रज्ञा बुद्धि का निरीक्षण है।

## 48 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

अतः इसमें कोई त्रुटि नहीं हो सकती। प्लेटों ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष और बौद्धिक ज्ञान में भेद स्पष्ट करते हुए कहा था कि तत्व का वास्तविक ज्ञान आत्म चक्षु के द्वारा ही हो सकता है।

विपर्यय या भ्रांत ज्ञान को व्याख्यातित करते हुए देकार्त कहते हैं कि यद्यपि सत्य की अनुसंधान विधि में प्रतिभान और निगमन की संयुक्त प्रक्रिया कार्य करती है परन्तु इन्हें विशुद्ध रूप में प्रयोग करना हमारे लिये कठिन है क्योंकि शरीर हमारी बुद्धि को प्रभावित कर इसे विकृत कर देता है। इस विकृति के कारण बुद्धि को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह वास्तविक ज्ञान न होकर भ्रम या विपर्यय ही होता है। देकार्त कहते हैं – “बचपन से ही हमारी बुद्धि शरीर में इतनी निमग्न रहती है कि इसे किसी वस्तु का सुभिन्न ज्ञान नहीं हो पाता, यद्यपि इसे स्पष्ट ज्ञान अवश्य होता है। इस कारण यह अनेक गलत धारणाओं और पूर्वाग्रहों से युक्त हो जाती है, जिनसे मुक्त होना हम साधारण व्यक्तियों के लिये सम्भव नहीं हो पाता।”<sup>3</sup>

देकार्त पुनः कहते हैं कि “हम अपने विचारों के संचालन और अभिव्यक्ति के लिये भाषा का प्रयोग करते हैं। भाषा प्रयोग के द्वारा संकेतों (शब्दों) और विचारों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि विचारशील बुद्धि के स्थान पर मात्र शब्द ही काम करने लगते हैं। जब तक हम विचारों को शब्द जाल से मुक्त नहीं कर लेते, वास्तविक ज्ञान असम्भव है।”<sup>4</sup> इसके अलावा माता-पिता की शिक्षा, जनश्रुति, परम्परा, लोकाचार तथा गलत शिक्षा भी मानव बुद्धि को दूषित करती है जिससे वह विपर्यय व भ्रम में पड़ जाती है।

उपर्युक्त कारणों से बुद्धि निगमनात्मक प्रणाली का सम्यक् प्रयोग नहीं कर पाती। बुद्धि का सम्यक् प्रयोग तभी सम्भव है जबकि बुद्धि निभ्रान्त और स्वस्थ हो। अतः बुद्धि की सत्व-शुद्धि करना अथवा से भ्रमों व पूर्वाग्रहों से मुक्त करना देकार्त की निगमनात्मक प्रणाली की पहली शर्त है। इसके लिये उसने सुव्यवस्थित संशय का सहारा लिया और सन्देह को साधन बनाकर उसने आत्मा की निःसन्देह सत्ता को प्राप्त किया तत्पश्चात् उसने आत्मा की सत्ता के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया। ग्रीक युग में प्लेटो ने कहा था आश्चर्य से दर्शन की उत्पत्ति होती है। मध्य युग के शास्त्रीय विचारकों का कथन था-ज्ञान की उत्पत्ति विश्वास से होती है। आधुनिक युग में देकार्त ने उद्घोष किया-ज्ञान की उत्पत्ति सन्देह से होती है।

इस प्रकार देकार्तीय संदेह का अन्त आत्मा की सत्ता में होता है क्योंकि आत्मा का कभी भी निषेध या अपलाप नहीं किया जा सकता। इसके निषेध में भी इसकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। देकार्त स्वयं कहता है कि यदि मैं अपने अस्तित्व का निराकरण भी करूँ तो इस निराकरण में भी मेरा अस्तित्व प्रकट होकर सामने आता है क्योंकि मैं ही तो

निराकर्ता हूँ। मेरी सत्ता का अपलाप नहीं हो सकता। ज्ञाता का ज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। यह अत्यन्त सुस्पष्ट और निःसन्देह स्वतः सिद्ध है कि मैं ज्ञाता हूँ अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है।<sup>5</sup>

देकार्त की मान्यता है कि केवल आत्मा का ज्ञान ही स्पष्ट सुभिन्न एवं निःसन्देह सत्य नहीं होता बल्कि अन्य सत्ताओं का ज्ञान उतना ही स्पष्ट, सुभिन्न एवं निःसन्देह सत्य हो सकता है। देकार्त के अनुसार आत्मा के पास तीन प्रकार के विज्ञान पाये जाते हैं — (1) काल्पनिक (2) आंगंतुक एवं (3) जन्मजात। काल्पनिक विज्ञान वे हैं जिन्हें आत्मा स्वयं रचती है वे अवास्तविक होते हैं, वे किन्हीं वस्तुओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते। आंगंतुक विज्ञान वे हैं जो बाहर की सीमित एवं परिच्छिन्न वस्तुओं द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। इसके भीतर सम्पूर्ण इन्द्रिय प्रत्यक्ष विज्ञानों को समाहित किया जा सकता है। अर्थात् वे वाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और कम वास्तविक होते हैं। इसके विपरीत जन्मजात प्रत्यय या विज्ञान आत्मा में निगूढ़ होते हैं और वे आत्मा की स्वाभाविक शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे ज्ञात होते हैं तथा अत्यधिक वास्तविक है। जन्मजात प्रत्ययों के द्वारा प्राप्त ज्ञान सुस्पष्ट, सुभिन्न एवं निःसन्देह स्वतः सिद्ध होता है।

देकार्त की मान्यता है कि जन्मजात प्रत्ययों में एक प्रत्यय ईश्वर का प्रत्यय है। यह परम ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। यह परम ईश्वर नित्य, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तितान तथा उन सभी वस्तुओं का सृष्टिकर्ता है जो संसार में पायी जाती है। उल्लेखनीय है कि ईश्वरीय प्रत्यय या विज्ञान एक सार्थक एवं जन्मजात विज्ञान है जिसे संसार की कोई सीमित या परिच्छिन्न वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकती। अतः देकार्त कहता है कि ईश्वर की सत्ता है जो अपरिच्छिन्न, असीम और पूर्ण है तथा सभी असीम

और परिच्छिन्न सत्ताओं का धारण करता है।<sup>6</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर की सत्ता है जो ज्ञान स्वरूप है। देकार्त यह घोषित करता है कि पूर्ण एवं सत्यनिष्ठ होने के कारण ईश्वर कभी भी अपने द्वारा सृष्ट जीवों को धोखा नहीं दे सकता, क्योंकि यदि वह ऐसा करता है तो अपूर्ण एवं धोखेबाज कहा जायेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हम जो कुछ सुस्पष्ट एवं सुभिन्न रूप में देखते या जानते हैं वह यथार्थ होता है। अतः देकार्त जन्मजात प्रत्यय के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करता है एवं ईश्वर की सत्ता के आधार पर ज्ञान की संभावना एवं वैधता की व्याख्या करने का प्रयास करता है।

किन्तु पूर्ण होने के कारण ईश्वर वंचक (डिसीवर) कभी भी नहीं हो सकता, अतः हमारा जो भी ज्ञान सुस्पष्ट और सुभिन्न है उसे हमें अनिवार्य रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि निश्चयात्मकता का आधार ईश्वर की सत्यनिष्ठता (वेरासिटी) है तो स्वयं ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण ईश्वर की साधुता और सत्यनिष्ठता के ऊपर आधारित होना चाहिए। किन्तु

## 50 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान, उसकी सत्यनिष्ठता के ज्ञान से पहले आता है। अतः ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए उसकी सत्यनिष्ठता को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि ईश्वर की सत्यनिष्ठा के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं तो उसमें चक्रक दोष अनिवार्य है। वह चक्रक दोष यह है कि हम सत्य के लक्षण के आधार पर एक ओर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं और पुनः ईश्वर के आधार पर सत्य के लक्षण को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

इसके प्रत्युत्तर में देकार्त कहता है कि – सुस्पष्ट और सुभिन्न विज्ञानों की सत्यता ईश्वर की सत्यनिष्ठता पर आधारित नहीं है। सुस्पष्टता एवं सुभिन्नता स्वयं में ही सत्य के लक्षण हैं। उसके कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि ईश्वर पूर्ण है, उसने हमें एक ऐसी निर्दोष बुद्धि प्रदान की है कि वह जिस किसी ज्ञान को सुस्पष्ट एवं सुभिन्न रूप में ज्ञान लेती है उसकी सत्यता असंदिग्ध हो जाती है। हमारे पास जो बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश है, वह ईश्वर के शिव स्वरूप को प्रकट करता है, वह हमारे विज्ञानों की सत्यता को प्रकट नहीं करता। सत्य स्वतः सुभिन्नता के आधार पर जब हम ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करते हैं तो इसमें हम ईश्वर की सत्यनिष्ठता का तनिक भी सहारा नहीं लेते। देकार्त का सत्य ईश्वर की सत्यनिष्ठता से बिल्कुल स्वतंत्र है। ईश्वर की सत्यनिष्ठा सत्य के लक्षण की सत्यता का एक अतिरिक्त अनुमोदन है। देकार्त के शिष्य अर्डमन ने इसी बात को और अधिक प्रभावी रूप में व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ज्ञान दृष्टि से आत्मा, उसके विज्ञान और सत्य के लक्षण पहले आते हैं और ईश्वर बाद में आता है किन्तु आस्तित्व की दृष्टि से ईश्वर पहले आता है और आत्मा उसके विज्ञान और सत्य के लक्षण बाद में आते हैं। आत्मा और सत्य के लक्षण ईश्वर का ज्ञान—हेतु है और ईश्वर आत्मा तथा सत्य के लक्षण का आस्तित्व हेतु है। यही दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।<sup>7</sup>

देकार्त की भाँति स्पिनोजा भी ज्ञान की व्याख्या ईश्वर की सत्ता के आधार पर प्रस्तुत करता है। वह अपने नीतिशास्त्र में ज्ञान की तीन अवस्थाओं का उल्लेख करता है। प्रथम—काल्पनिक ज्ञान—इसके अन्तर्गत इन्द्रियानुभव एवं लोक परम्पराओं पर आधारित ज्ञान आते हैं। यह सबसे निम्न स्तर का ज्ञान है। इसे अज्ञान एवं परतंत्रता का स्तर कहा जा सकता है। इसे ज्ञान का अस्पष्ट, अविवेकपूर्ण और अपर्याप्त स्तर कहा जा सकता है। इस स्तर पर तत्व के विश्व रूप का ज्ञान होता है। इसकी तुलना प्लेटो की ज्ञानमीमांसा में उल्लिखित 'मत' से की जा सकती है।<sup>8</sup>

द्वितीय, बौद्धिक ज्ञान—यह काल्पनिक ज्ञान से उच्चस्तरीय होता है। तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण हम इस स्तर पर भेदों में अनुस्यूत अभेद का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसे वैज्ञानिक ज्ञान कहा जा सकता

है। इसके अन्तर्गत वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनके प्रमुख गुणों का ज्ञान होता है। इस स्तर पर मनुष्य वस्तुओं और मनुष्यों में व्याप्त ईश्वर के कुछ गुणों को जान लेता है। यह ईश्वर के विश्वास का ज्ञान है। इनके अन्तर्गत सामान्य तत्वों और निगमन से प्राप्त ज्ञान आता है। स्पिनोजा के अनुसार इन्द्रियानुभव से वस्तुओं के परिवर्तनशील स्वरूप का सतही ज्ञान होता है। इसके विपरीत बुद्धि से वस्तुओं के स्थिर और सामान्य स्वरूप का ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि वह विशेष वस्तुओं का ज्ञान नहीं है बल्कि यह उन वस्तुओं के सर्वगत लक्षणों का ज्ञान है। इसे स्पिनोजा ने द्वितीय स्तर का अथवा बौद्धिक ज्ञान कहा है।<sup>9</sup>

तृतीय, प्रतिभ ज्ञान अथवा प्रज्ञात्मक ज्ञान को स्पिनोजा ने सर्वोच्च कोटि का ज्ञान कहा है। यह आत्मा के नित्य अंश पर आधारित ज्ञान है। प्रज्ञात्मक ज्ञान ईश्वर के कुछ गुणों के पर्याप्त ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के सारतत्व का ज्ञान प्राप्त करना है। यह अनन्त एवं नित्य तत्व की साक्षात् अनुभूति है। ऐसा ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण होने के साथ-साथ पर्याप्त भी होता है। यह स्वयं सिद्ध ज्ञान है। इसकी प्रामाणिकता न तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर और न बौद्धिक ज्ञान पर आधारित होती हैं। चूँकि मानव बुद्धि ईश्वर की अनन्त बुद्धि का अंश है इसलिए प्रज्ञात्मक ज्ञान स्वाभाविक रूप से बुद्धि में ही उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रज्ञात्मक ज्ञान अनुमानजन्य नहीं बल्कि साक्षात् होता है।<sup>10</sup> इस अवस्था में विचार और विस्तार की भिन्नता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने आदि कारण ईश्वर के द्वारा बोधगम्य हो जाती है। इस ज्ञान की प्राप्ति के परिणामस्वरूप मनुष्य स्वयं पूर्ण एवं आनन्दमय हो जाता है। ज्ञान के इस स्तर पर स्पिनोजा ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम की बात करता है। प्रज्ञात्मक ज्ञान से युक्त होने पर मनुष्य का दैवीकरण हो जाता है। वह दिव्य दृष्टि से आलोकित हो उठता है। पूर्णता की यह अवस्था एक प्रकार से ज्ञान और प्रेम-पूर्ण अनुभूति की एकता का स्तर है।

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम ही सर्वोच्च ज्ञान है। यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य या परमश्रेय है। वस्तुओं और विचारों को ईश्वर के गुणों के सन्दर्भ में समझने का प्रयास करना ही मनुष्य का सबसे बड़ा सदगुण है। चूँकि ईश्वर पूर्ण है अतः उसके लिये प्रत्येक कर्म स्वाभाविक है। उल्लेखनीय है कि स्पिनोजा नियतिवादी है, प्रयोजनवादी नहीं। अस्तु, सृष्टि में प्रत्येक वस्तु और क्रियाएँ स्वाभाविक हैं। स्पिनोजा ने 'प्रेम' शब्द का प्रयोग सामान्य मानव प्रेम से भिन्न अर्थ में किया है। यह भावनात्मक प्रेम नहीं बल्कि दैवी तत्व के प्रति प्रेम है। यहाँ पर प्रेम ईश्वर के प्रति अनासक्ति भाव का द्योतक है। इस प्रेम का लक्ष्य पूर्णता की प्राप्ति है। स्पिनोजा के अनुसार बौद्धिक प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य प्रेम नित्य और स्थिर नहीं है। अनन्त ईश्वर का अनन्त स्वरूप असीम आनन्द की

## 52 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

अनुभूति प्रदान करता है। ईश्वर के साक्षात्कार करने की अवस्था है। अर्थात् 'सबमें ईश्वर को और ईश्वर में सबको' अनुभूति करना ही ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम है। इसी में आत्मा की स्वतंत्रता और मुक्ति निहित है।<sup>11</sup>

बुद्धिवादी परम्परा का अन्तिम दार्शनिक लाइबनिट्ज भी ज्ञान की व्याख्या ईश्वर की सत्ता के आधार पर करता है। लाइबनिट्ज अपने ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत ज्ञान की संभावना एवं उसके स्रोत पर विचार करते हुए देकार्त से इस बात में सहमत है कि आत्मा के भीतर कुछ न कुछ जन्मजात प्रत्यय अवश्य होते हैं। बाहर से कोई भी विज्ञान आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकता। इसी प्रकार वे लॉक से भी इस बात में सहमत हैं कि संवेदनाओं से ही विचारों की उत्पत्ति होती है।

लाइबनिट्ज की मान्यता है कि ज्ञान न तो इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न संस्कार है और न स्वप्न की भांति मनोमय रचना ही है। यह चिदगु की आंतरिक अभिव्यक्ति है। चिदगु के भीतर जो अव्यक्त है वह ज्ञान के रूप में व्यक्त होता है। सभी ज्ञान पहले से ही चिदगुओं में सूक्ष्म रूप में विद्यमान होते हैं। उन्हें केवल व्यक्त करने की ही आवश्यकता है।

लाइबनिट्ज के अनुसार—प्रत्यक्ष और चरिष्णुता ये दो प्रक्रियाएं प्रत्येक चिदगु में पायी जाती है और इन्हीं दोनों प्रक्रियाओं के द्वारा चिदगु अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं एवं साथ ही सम्पूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करते हैं। प्रत्यक्ष और चरिष्णुता के आधार पर ही समस्त चिदगु चेतना के सर्वोच्च स्तर अर्थात् परम (ईश्वर) होना चाहते हैं।<sup>12</sup> प्रत्येक उच्चतर श्रेणी निम्नतर सभी श्रेणियों को समाहित करती है। नीचे की श्रेणी का आदर्श ऊपर के श्रेणी में अग्रसर होना है। इन श्रेणियों में कोई जातिगत भेद नहीं होता है, उनमें केवल विकास का भेद होता है। यद्यपि सभी चिदगु अपनी-अपनी शक्ति के केन्द्र हैं तथापि वस्तुतः स्वतंत्र तो केवल स्वचेतन और ईश्वर चिदगु ही है। लाइबनिट्ज के दर्शन में स्वातंत्र्य का अर्थ ज्ञानतंत्रता से है। इसका अर्थ न तो परतंत्रता है और न अतंत्रता ही। इसका वास्तविक अर्थ स्वतंत्रता है। सभी चिदगुओं का एक मात्र लक्ष्य है सर्वोत्तम चिदगु या ईश्वर के समान बनना।<sup>13</sup>

हम जानते हैं कि लाइबनिट्ज के सभी चिदगु परस्पर स्वतंत्र हैं। वस्तुतः उनमें तात्त्विक सम्बन्ध नहीं है। सम्पूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करते हुए भी वे गवाक्षहीन हैं। एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना वे अपनी चितशक्ति का विकास करते हैं। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसी स्थिति में चिदगुओं में सम्बन्ध और सामंजस्य क्यों और कैसे पाये जाते हैं ? इस जटिल समस्या का समाधान लाइबनिट्ज ईश्वर के आधार पर करते हैं।



ईश्वर सभी चिदणुओं का स्रष्टा है। उसने चिदणुओं को स्वतंत्र तो अवश्य बनाया पर साथ-साथ उन्हें एकतंत्रता के सूत्र में बाँध दिया। एक चिदणु की स्वतंत्रता दूसरे चिदणुओं का विरोध नहीं करती। ईश्वर ने विभिन्न चिदणुओं का निर्माण किया तो उसी समय ही उनमें ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी कि उनके कार्यों में स्वतंत्रता होते हुए भी उनमें एक प्रकार का सामंजस्य पाया जाता है। इस सार्वभौम ईश्वरीय नियम को

लाइबनिट्ज ने 'पूर्व-स्थापित सामंजस्य' कहा है।<sup>14</sup> अतः सभी चिदणुओं का लक्ष्य अपनी चित्त शक्ति का पूर्ण विकास करके पूर्णता को प्राप्त करना है और यह सामंजस्य के बिना सम्भव नहीं है। चिदणुओं की उत्पत्ति सोददेश्य की गयी है। उनकी व्यवस्था ही इस प्रकार की गयी है कि आत्मा चिदणु का परिवर्तन शरीर-चिदणु के परिवर्तन का तार्किक या वैचारिक कारण होता है क्योंकि आत्मा-चिदणु में जो-जो हेतु पाया जाता है उसी को ध्यान में रखकर ईश्वर ने प्रारम्भ में ही शरीर-चिदणुओं में तदनुसार परिवर्तन की

व्यवस्था कर दी।<sup>15</sup> चिदणुओं के अस्तित्व के पार्थक्य में लक्ष्य की एकतंत्रता है। उनकी बहुलता में सामंजस्य की एकता है। विश्व की भेदता में अभेदता अनुस्यूत है। प्रत्येक अणु विराट् को प्रतिबिम्बित करता है क्योंकि विराट् में जो कुछ हो रहा है वह प्रत्येक अणु में चरितार्थ होता है। यह सामंजस्य ईश्वर ने पहले से ही चिदणुओं में स्थापित कर दिया है।<sup>16</sup>

अतः ईश्वर अद्वितीय, सार्वभौम और अनिवार्य तत्त्व है उससे बाहर ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे स्वतंत्र कहा जा सके। अन्य चिदणुओं और वस्तुओं में केवल सम्भावित अस्तित्व है किन्तु ईश्वर में अनिवार्य अस्तित्व पाया जाता है। ईश्वर पूर्ण असीम, और अनन्त है। उनमें सभी साध्यों की सिद्धता पायी जाती है। ईश्वर में यथार्थपूर्णता पायी जाती है। अन्य चिदणुओं में संभाव्य पूर्णता ही पायी जाती है। ईश्वर अन्य चिदणुओं की पूर्णता का स्रोत है। ईश्वर की पूर्णता स्वयं अपने स्वभाव के कारण है। वह एक निरपेक्ष तत्त्व है। ईश्वर में शिव, ज्ञान एवं शक्ति की पराकाष्ठा पायी जाती है। वह अनन्त शिव, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति है। ईश्वर की अनन्त शुभता, ज्ञान और शक्ति के द्वारा ही जगत में शुभ, ज्ञान और शक्ति का प्रवर्तन होता है। ईश्वर परम प्रवर्तक है। इस प्रकार लाइबनिट्ज ने जीवन और जगत् की व्यवस्था, उसके अस्तित्व एवं ज्ञान की व्याख्या ईश्वर के आधार पर करता है।<sup>17</sup>

बुद्धिवादियों के अतिरिक्त निरपेक्ष प्रत्यवादी हेगेल ज्ञान और सत्ता के द्वैत को समाप्त करते हुए इनमें अभेद सम्बन्ध की स्थापना करता है। उसकी मान्यता है कि निरपेक्ष चित् या ईश्वर ज्ञान स्वरूप है, और सब कुछ उसी की द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्ति है। उसके दर्शन में बुद्धिवाद समस्त सीमाओं का अतिक्रमण करके पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वह व्यावहारिक

## 54 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

बुद्धि की प्राथमिकता को अस्वीकार करते हुए प्रज्ञावाद का प्रतिपादन किया, जिसका पर्यवसान निरपेक्ष प्रत्ययवाद में हुआ। हेगेल का दर्शन एक ऐसा प्रयास है जिसमें वैज्ञानिकता एवं बौद्धिकता के साथ-साथ साक्षात्कार का तत्व भी विद्यमान हो। उसकी मान्यता है कि दर्शन का उद्देश्य निरपेक्ष प्रत्यय के विकास का सम्यक् मूल्यांकन करना है।

हेगेल की मान्यता है कि ज्ञान अमूर्त विचारों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सर्जनात्मक है। ज्ञान तत्व को जानने का साधन नहीं है, बल्कि ज्ञान ही सत्ता है। प्रत्यय और वस्तु में, आत्मा और प्रकृति में अभेद है। तत्वमीमांसीय दृष्टि से तत्व के स्वरूप पर विचार करने से हेगेल इस निष्कर्ष का निगमन करता है कि सत्ता बौद्धिक है, अर्थात् ज्ञान स्वरूप है। पुनश्च जब वह ज्ञानमीमांसीय एवं तार्किक दृष्टि से विचार करता है तो वह इस निष्कर्ष का प्रतिपादन करता है कि ज्ञान या विचार ही सत्ता है।<sup>18</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसा दोनों का प्रतिपाद्य विषय और लक्ष्य एक ही सत्ता अथवा ज्ञान का विवेचन एवं मूल्यांकन करना है।

हेगेल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद में प्रत्यय ही वास्तविक सत्ता है किन्तु यह कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं है। प्रत्यय चेतन स्वरूप एवं ज्ञाता है। इसका निराकरण नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण विश्व इसी का विकास है जो कुछ है वह चेतन प्रत्यय के विकास का ही मूर्त सोपान है। उल्लेखनीय है कि काण्ट ने बुद्धि को विश्लेषणात्मक कहा है किन्तु हेगेल के अनुसार विश्लेषणात्मक बुद्धि वैचारिक कोटियों को पृथक-पृथक रूप में ग्रहण करने के प्रयास में विरोधाभासों का शिकार हो जाती है। सत्ता का सम्यक् ज्ञान संश्लेषणात्मक बुद्धि के स्तर पर ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए हेगेल सत्ता और ज्ञान को अभिन्न मान लेता है।<sup>19</sup> इस दृष्टि से विचार का आकार और सत्ता का आकार परस्पर अभिन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में संश्लेषणात्मक प्रज्ञा स्वयं दैवी या ईश्वरीय है। चूँकि यह सर्वत्र व्याप्त है, इसलिये प्रत्येक वस्तु इसी का प्रकाश है। प्रत्यय और सत्ता अथवा चित् एवं सत् में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

इस प्रकार हेगेलीय दृष्टि से विचार किया जाय तो ईश्वर को अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति की आवश्यकता होती है अर्थात् प्राकृतिक जगत् निरपेक्ष प्रत्यय का वाह्य रूप है। इसे भेदों अथवा विविधताओं से युक्त जगत् कहा जा सकता है। इस दृष्टि से जड़ जगत् चेतना की अभिव्यक्ति की एक अवस्था है। निरपेक्ष तत्व द्वन्द्वात्मक विकास की प्रक्रिया में वनस्पति जगत् एवं पशु-जगत् से होते हुए मानव-जगत् में आकर आत्म चैतन्य हो जाता है। विकास की पराकाष्ठा में मूर्त प्रत्यय अपने समन्वयात्मक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसकी सम्यक् अभिव्यक्ति कला और धर्म में होते हुए, उसे भी अपने में समेटे हुए कला और धर्म से विशिष्ट

दर्शन में होती है। इस प्रकार हेगेल के निरपेक्ष प्रत्यय की विकास यात्रा का समापन या समन्वय प्राकृतिक जगत् और मानव जीवन का अध्ययन करने वाली ज्ञान-विज्ञान की विविध विधाओं को अपने में समेटे हुए उनसे विशिष्ट दर्शनशास्त्र में होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वरवादी दार्शनिक ज्ञान की सीमा, स्रोत एवं वैधता की व्याख्या दैवी या ईश्वरीय सत्ता के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर की सत्ता एक ऐसा मानक है जिसके आधार पर ज्ञान की समस्या का समाधान आसानी से किया जा सकता है। अर्थात् ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानते हैं और यह कहते हैं कि उसकी कृपा के बिना मनुष्य नितांत असहाय है। वे शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य आदि ज्ञान की प्राप्ति के लिये ईश्वर को विशेष महत्व देते हैं। क्योंकि उनके अनुसार ईश्वर की सहायता के बिना मानव की तर्कबुद्धि इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। ईश्वरवादियों का निश्चित मत है कि ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप ही मनुष्य को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

### (ख) नैतिक एवं समाजशास्त्रीय निहितार्थ

ईश्वरवादी दार्शनिक तथा धर्म परायण व्यक्ति ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के आधार पर ही नैतिकता की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार — 'अमुक कर्म शुभ या उचित है' इस नैतिक निर्णय का अर्थ यह है कि "वह कर्म ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के अनुरूप है जो दार्शनिक इस धार्मिक मान्यता के आधार पर नैतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं उनके सिद्धान्त को धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त कहा जाता है। पाश्चात्य नैतिक दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि पिछली कई शताब्दियों से अनेक दार्शनिक इसी धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त का समर्थन करते रहे हैं।

मध्य युग में दर्शन की अन्य महत्वपूर्ण विधाओं की भाँति नीतिशास्त्र को भी धर्मशास्त्र या ईश्वरशास्त्र का ही एक अभिन्न अंग माना जाता था और ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों द्वारा ही नैतिक निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट किया जाता था। तत्पश्चात् पुनर्जागरण काल में भी अनेक दार्शनिक नैतिक निर्णयों की व्याख्या के सम्बन्ध में इसी धर्मशास्त्रीय विचारधारा का समर्थन करते रहे। इन दार्शनिकों में लाइवनिट्ज, जॉन लॉक एवं विलियम पैली के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विलियम पैली के विचार में — 'सद्गुण ईश्वर की इच्छानुसार मानव-जाति का उपकार करना है। सर्वशक्तिमान ईश्वर प्राणियों के सुख की इच्छा करता है। अतः जो कर्म उसकी इस इच्छा की पूर्ति करते हैं वे उसे अवश्य ही स्वीकार्य होंगे।'<sup>20</sup> इसी प्रकार लाइवनिट्ज की मान्यता है कि यह जगत् सभी सम्भव जगत्तों में सर्वोत्तम जगत् है, क्योंकि यह ईश्वर की कृति है।

वर्तमान शताब्दी में भी दार्शनिकों ने इसी धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता की व्याख्या की है। कार्ल वार्थ, एमिल बुनर

## 56 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

तथा रीनोल्ड नीबुर इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक हैं, जिनके मत पर यहाँ हम संक्षेप में विचार करेंगे। इन दार्शनिकों की मान्यता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और उसकी कृपा के बिना मनुष्य नितांत असहाय है। वे शुभ-अशुभ सम्बन्धी नैतिक ज्ञान की प्राप्ति के लिये श्रुति को विशेष महत्व देते हैं क्योंकि उनके अनुसार श्रुति की सहायता के बिना अपनी तर्कबुद्धि द्वारा मनुष्य यह ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता। ईसाई विचारधारा का अनुसरण करते हुए ये दार्शनिक मनुष्य को पूर्णतः पापमय तथा अत्यन्त तुच्छ प्राणी मानते हैं, और इस मान्यता का दृढ़तापूर्वक विरोध करते हैं कि वह स्वभावतः अच्छा है। उनका निश्चित मत है कि ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप ही मनुष्य अपने पाप से मुक्त हो सकता है, और केवल श्रुति के माध्यम से ही वह शुभ-अशुभ विषयक नैतिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

वार्थ का निश्चित मत है कि मनुष्य अपनी तर्क बुद्धि द्वारा परम सत्य को कभी नहीं जान सकता। परमसत्य का ज्ञान उसे केवल श्रुति द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, जो ईश्वर के अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं। वार्थ कहते हैं कि "मैं नीतिशास्त्र को ईश्वरादेश का सिद्धान्त मानता हूँ, और उसे धर्मशास्त्र का अग्रिन् भाग मानने के अतिरिक्त कुछ और मानना उचित

नहीं समझता।"<sup>21</sup> अनुभव और तर्कबुद्धि पर आधारित मनुष्य का ज्ञान अत्यन्त सीमित है। अतः वह ईश्वरीय कृपा तथा सहायता के बिना अन्तिम नैतिक सत्यों को जानने में नितांत असमर्थ है। यही कारण है कि मानव समाज में प्रचलित समस्त नैतिक नियम तथा सिद्धान्त शाश्वत और अपरिवर्तनशील न होकर सापेक्ष ही हैं। ऐसा कोई नैतिक नियम अथवा सिद्धान्त नहीं है जो सर्वत्र और सर्वदा सभी मनुष्यों के लिए सत्य हो। इस प्रकार वार्थ मनुष्य के नैतिक ज्ञान की सापेक्षता में पूर्णतः विश्वास करते हैं। उनका मत है कि इस संसार में वस्तुनिष्ठ रूप से किसी भी नैतिक नियम या सिद्धान्त को सार्वभौमिक रूप से सत्य प्रमाणित करना अथवा उसकी

निष्पक्ष परीक्षा करना मनुष्य के लिये संभव नहीं है।<sup>22</sup> ऐसी स्थिति में कुछ दार्शनिकों का यह दावा निरर्थक हो जाता है कि नैतिकता और मूल नैतिक सत्यों का कोई निरपेक्ष आधार है। वार्थ के अनुसार—मानव का सम्पूर्ण जीवन भावनाओं अथवा संवेगों द्वारा ही शासित होता है। अतः उसमें वह संकल्प स्वातंत्र्य भी नहीं है जिसे अधिकतर दार्शनिक नैतिकता का अनिवार्य मूल आधार मानते हैं।<sup>23</sup>

मनुष्य को जो सापेक्ष नैतिक ज्ञान प्राप्त होता है उसका अन्तिम आधार अथवा मूल स्रोत वार्थ के विचार में स्वयं ईश्वर के प्रवचन ही है। यद्यपि हम ईश्वर को कभी नहीं जान सकते, क्योंकि वह मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि से परे है, फिर भी हम अपना समस्त नैतिक ज्ञान मूलतः उसी के प्रवचनों से प्राप्त करते हैं। वार्थ का विचार है कि ईश्वर के ये प्रवचन

हमारे समक्ष मुख्यतः तीन रूपों में अभिव्यक्त होते हैं और ये तीन रूप हैं—धर्म ग्रंथ, धर्मोपदेशकों द्वारा किया गया प्रचार तथा श्रुति। इन तीनों में श्रुति का ही विशेष महत्त्व है क्योंकि वही ईश्वरीय प्रवचनों का अन्तिम अथवा मूल स्रोत है। अन्य दोनों का रूप अन्ततः श्रुति पर आधारित है। हम श्रुति को किन्हीं विशेष नियमों अथवा सिद्धान्तों के रूप में संगठित करके शास्त्रबद्ध नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि ईश्वरीय प्रवचनों पर आधारित

श्रुति मनुष्य की तर्कबुद्धि का विषय नहीं है।<sup>24</sup> इसका एक मात्र आधार आस्था है जो मनुष्य को ईश्वर की कृपा के परिणामस्वरूप ही प्राप्त हो सकती है। स्वयं ईश्वर ही यह निर्णय करता है कि वह अपने अनुग्रह द्वारा किन व्यक्तियों में यह आस्था उत्पन्न करेगा। इसके लिये मनुष्य किसी प्रकार का प्रयास नहीं कर सकता।<sup>25</sup> इस प्रकार वार्थ के अनुसार मनुष्य का नैतिक ज्ञान केवल सापेक्ष ही नहीं अपितु वह पूर्णतः ईश्वरीय अनुग्रह पर भी निर्भर है।

कार्ल वार्थ की भाँति ऐमिल ब्रूनर भी नैतिकता और नैतिक निर्णयों की व्याख्या के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त का पूर्णतः समर्थन करते हैं। वे भी नैतिक सिद्धान्तों को सापेक्ष मानते हुए कहते हैं कि ये सिद्धान्त वास्तव में नैतिकता की समुचित व्याख्या नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ—प्रकृतिवादी सिद्धान्त हमें यह नहीं बताते कि 'उचित' और 'कर्त्तव्य' का ठीक—ठीक अर्थ क्या है ? इसी प्रकार तत्वमीमांसीय सिद्धान्त हमें यह नहीं बताते कि व्यावहारिक जीवन में हमारे वास्तविक कर्त्तव्य क्या हैं? इन सभी सिद्धान्तों का प्रमुख दोष यही है कि ये नैतिकता को ईश्वरादेश से स्वतंत्र मानकर उसकी व्याख्या करते हैं परन्तु वास्तव में ईश्वरादेश से पृथक नैतिकता का कोई अर्थ और महत्त्व नहीं हो सकता। क्योंकि अन्ततः

ईश्वर ही उसका मूल स्रोत है।<sup>26</sup> ईश्वरादेश के स्थान पर मानवीय अनुभव एवं तर्क बुद्धि पर आधारित होने के कारण सभी नैतिक सिद्धान्त सापेक्ष हैं और इन सिद्धान्तों की सत्यता के विषय में विभिन्न व्यक्तियों तथा समुदायों में तीव्र मतभेद है। ब्रूनर कहते हैं कि 'एक भी ऐसा नैतिक आदेश नहीं है जिसे सर्वत्र अन्तिम आदेश के रूप में स्वीकार किया जाता हो; इसके विपरीत विभिन्न राष्ट्रों तथा सभ्यताओं की नैतिक प्रणालियाँ केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सैद्धान्तिक दृष्टि से भी एक दूसरे का पूर्णतः विरोध करती है।'<sup>27</sup>

नैतिक सिद्धान्तों को सापेक्ष मानने के साथ—साथ ब्रूनर भी वार्थ के समान ही नैतिकता को ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा पर निर्भर मानते हैं। उनका मत है कि — नीतिशास्त्र पूर्णरूप से धर्मशास्त्र पर ही आधारित है धर्मशास्त्र से पृथक उसका कोई अस्तित्व नहीं है। समस्त नैतिक नियमों तथा सिद्धान्तों का एकमात्र अन्तिम आधार ईश्वर की इच्छा अथवा

## 58 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

आज्ञा है। ब्रूनर के अनुसार कोई भी वस्तु अपने आप में शुभ नहीं है। ईश्वर जो कुछ करता है और चाहता है वही शुभ है, जो ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है वही अशुभ है। शुभ का आधार और अस्तित्व केवल ईश्वर की इच्छा में ही निहित है।..... किसी विशेष समय में ईश्वर जिसकी इच्छा करता है वही कर्म करना सदैव शुभ है।<sup>28</sup> इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्रूनर के विचार में 'शुभ' के अर्थ की व्याख्या मानवीय अनुभव द्वारा नहीं अपितु ईश्वर की इच्छा के आधार पर ही की जा सकती है।

ईश्वरवादी दार्शनिक होने के कारण ब्रूनर यह मानते हैं कि यह जगत ईश्वर की ही रचना है। अतः वह निश्चय ही इस जगत का हित चाहता है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर सभी प्राणियों के सुख की इच्छा करता है। अतः उसकी इस इच्छा का अनुसरण करते हुए हमें ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे सभी प्राणियों को सुख प्राप्त हो। जिस कर्म के कारण किसी प्राणी को दुःख प्राप्त होता है उसका दृढ़ता पूर्वक विरोध करना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि ऐसा कर्म ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल है।<sup>29</sup> इस प्रकार ब्रूनर के विचार में 'शुभ' की भाँति 'कर्तव्य' का मूल आधार भी ईश्वर की इच्छा अथवा उसका आदेश ही है।

वार्थ और ब्रूनर के अतिरिक्त अमेरिकन दार्शनिक रीनोल्ड नीबुर ने भी उक्त धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त के आधार पर ही नैतिकता तथा नैतिक निर्णयों की व्याख्या की है। नीबुर की मान्यता है कि—नैतिक सिद्धान्तों की सापेक्षता एक ही समस्या के विषय में विभिन्न व्यक्तियों, समुदायों तथा राष्ट्रों के अलग-अलग और परस्पर विरोधी विचारों में स्पष्टतः देखी जा सकती है। उनके इन विचारों पर उनकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इसी कारण किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय के लिये पूर्णतः निष्पक्ष होकर किसी समस्या पर विचार करना संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में मनुष्य की निष्पक्षता को पूर्णतः अस्वीकार करते हुए नीबुर कहते हैं कि — प्रत्येक निर्णय व्यक्ति के स्वार्थ से प्रभावित होता है और निष्पक्षता का प्रत्येक दावा अन्ततः उस विशेष स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण को छिपाने में असमर्थ रहता है जिससे यह दावा प्रेरित अथवा विकृत होता है।..... विवाद में भाग लेने वाले किसी भी पक्ष का दृष्टिकोण इतना ऊँचा या निष्पक्ष नहीं होता कि वह अपने विरोधी के मत की श्रेष्ठ बातों का निर्णय कर सके। इस प्रकार नैतिक प्रतिमानों पर आधारित प्रत्येक युक्ति प्रतिद्वन्दी के विरुद्ध स्वयं अपने मत के नैतिक औचित्य को सिद्ध करने का साधन मात्र बन जाती है।<sup>30</sup> नीबुर के इन विचारों से स्पष्ट है कि उनके मतानुसार नैतिक विवाद में मनुष्य के लिये निष्पक्षता असम्भव है। अतः समस्त नैतिक नियमों तथा सिद्धान्तों का सापेक्ष होना अनिवार्य है। किसी भी समस्या पर हम सब केवल स्वार्थ से प्रेरित होकर विचार करते हैं आर इसी आधार पर उसके

विषय में अपना निर्णय देते हैं। इसी कारण नीबुर कहते हैं कि अपने किसी भी नैतिक नियम अथवा सिद्धान्त को पूर्णतः सत्य एवं सार्वभौम मानना मनुष्य के लिये पाप अथवा ईश्वर के विरुद्ध अपराध है। उन्हीं के शब्दों में 'मनुष्य द्वारा अपने अस्तित्व की सीमाओं को जानबूझकर अस्वीकार करना ही पाप का मूल स्रोत है।'<sup>31</sup>

नीबुर ने ईश्वर द्वारा प्राप्त श्रुति को नैतिक ज्ञान का मूल स्रोत माना है। उनका मत है कि इस श्रुति के माध्यम से ही ईश्वर शुभ-अशुभ के विषय में हमारे समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करता है। हमारा समस्त नैतिक ज्ञान अन्ततः इसी श्रुति पर आधारित है। नीबुर के मतानुसार इस श्रुति के मुख्यतः दो रूप हैं। व्यक्तिगत श्रुति और सार्वजनिक श्रुति। जिन्हें वे क्रमशः विशेष श्रुति एवं सामान्य श्रुति भी कहते हैं। उनके विचार में सामान्य श्रुति ही विशेष श्रुति का मूल आधार है किन्तु ईश्वर की इच्छा और उसके आदेश को हम विशेष श्रुति द्वारा ही जान सकते हैं।<sup>32</sup> परन्तु नीबुर ने श्रुति के इन दोनों रूपों के अन्तर को पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया। श्रुति के अतिरिक्त प्रेम के आधार पर भी वे कभी-कभी नैतिकता की व्याख्या करते हैं किन्तु उनके अनुसार नैतिकता का अन्तिम आधार ईश्वर की इच्छा ही है जिसे वह श्रुति के माध्यम से हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। इस प्रकार स्पष्टतः यह परिलक्षित होता है कि ईश्वरवादी विचारकों के अनुसार ईश्वर विषयक विश्वास ही नैतिकता का मूल आधार है। ईश्वर ने ही इस विश्व में नैतिक व्यवस्था स्थापित की है और वही समस्त नैतिक मूल्यों, आदर्शों तथा नियमों का एकमात्र उद्गम स्रोत है। समाज में आचरण के लिये जो नैतिक नियम प्रचलित हैं वे सब मूलतः ईश्वर की इच्छा अथवा उसके आदेश पर ही आधारित हैं, जिसके अभाव में हमारे लिये इन नियमों की कोई सार्थकता नहीं हो सकती। इन नैतिक नियमों का पालन करने का अर्थ है ईश्वर के आदेश को स्वीकार करना और इन्हें न मानने का अर्थ है उसके आदेश का उल्लंघन करना। अपने इसी मान्यता के कारण ईश्वरवादी विचारक निश्चित रूप से यह मानते हैं कि जो व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता वह नैतिक नियमों का पालन करने के लिये भी अपने आप को बाध्य नहीं समझेगा। अतः ईश्वर विषयक विश्वास के बिना नैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। विश्व में नैतिक आदर्शों, मूल्यों तथा नियमों की स्थापना करने वाले ईश्वर की संतान होने के कारण हमारा यह अनिवार्य कर्तव्य है कि हम उसके आदेश के रूप में इन आदर्शों, मूल्यों एवं नियमों का पूर्णतः पालन करें। ईश्वर के आदेश को मानना पुण्य और न मानना पाप है जिसके लिये वह हमें इस जीवन में अथवा आगामी जीवन में क्रमशः पुरस्कृत और दण्डित अवश्य ही करेगा। इस प्रकार ईश्वरवादियों के अनुसार नैतिकता अंततः ईश्वर की आज्ञा अथवा इच्छा पर ही पूर्ण रूप से निर्भर है। अर्थात् ईश्वर को अस्वीकार करने का अर्थ है नैतिकता का परित्याग करना।

## 60 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

स्पष्टतः इसका तात्पर्य यही है कि कोई भी निरीश्वरवादी व्यक्ति नैतिकता के अनुरूप आचरण नहीं कर सकता। उपर्युक्त ईश्वरवादी नैतिकता के स्वरूप, उद्गम तथा उद्देश्य की व्याख्या करते हुए जॉन स्मिथ ने लिखा है – “मनुष्य के लिये न्यायशील तथा दयालु होना आवश्यक है क्योंकि ईश्वर अपने लोगों के साथ समस्त सम्बन्धों में न्यायी एवं दयालु दोनों है। मनुष्य को अपने सांसारिक जीवन में प्रेम व्यक्त करना चाहिए क्योंकि ईश्वर का स्वभाव प्रेम करना है और ईश्वर में विश्वास करने वाले व्यक्ति के भीतर जो ईश्वर-प्रेम विद्यमान है वही सभी मामलों में हमारे समस्त मानवीय प्रयासों के लिये अभिप्रेरणा तथा प्रेरक शक्ति प्रदान करता है..... ईश्वर का स्वरूप आचरण के लिये प्रतिमान प्रदान करता है..... और उसे कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक अभिप्रेरणा तथा भावना भी ईश्वर का प्रेम प्रदान करता है।..... ऐसी नैतिकता जो अपने से ऊपर किसी सत्ता पर आधारित नहीं है। अनिवार्यतः भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाती है क्योंकि वह अपने आदेशों से परे किसी निर्णायक को स्वीकार नहीं करती।..... परन्तु जो नैतिकता धार्मिक स्वरूप वाले ईश्वरीय प्रेम पर वास्तव में आधारित है और जो ईश्वर की शक्ति को निर्णायक के रूप में स्वीकार करती है, वह सिद्धान्तः ऐसे भ्रष्टाचार से बची रहती है।”<sup>33</sup> इस उद्धरण से स्पष्ट है कि स्मिथ के अनुसार नैतिकता पूर्णतः ईश्वर पर ही निर्भर है क्योंकि उसके सभी पक्षों—उद्गम, स्वरूप, उद्देश्य आदि की व्याख्या केवल ईश्वर के आधार पर ही की जा सकती है।

### सन्दर्भ ग्रन्थः—

1. रेने डेकार्ट 'डिस्कोर्स आन मेथड' पार्ट I, अनु० हाल्डेन एण्ड रॉस, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1937, पृ०-89
2. वही, नियम III
3. रेने डेकार्ट—'प्रिंसिपल्स ऑफ फिलॉसॉफी'—1994—1, 47
4. वही, 1, 74
5. तुलनीय, नहि द्रष्टुर्द्रष्टेविपरिलोपो विद्यते। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।। शारीरिक भाष्य—2, 3, 7
6. रेने डेकार्ट 'मेडिटेशन्स आन फर्स्ट फिलॉसॉफी' 1641, खण्ड-3
7. एन०के० स्मिथ—'न्यू स्टडीज इन द फिलॉसॉफी ऑफ डेकार्ट—मेकमिलन लंदन 1963, पृ०-71-77
8. उद्धृत वूल्फसन 'दि फिलॉसॉफी ऑफ स्पिनोजा कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1934 पृ०-81
9. वही, पृ०-83
10. वही, पृ०-87
11. तुलनीय, यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति, गीता अध्याय 6 श्लोक 30



12. एच०डब्लू० कर 'लाइवनिट्ज' अर्नेस्ट वर्न लंदन-1929, पृ०-39
13. वही, पृ०-39
14. वही, पृ०-41-43
15. फ्रैंक थिली-ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी' सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद 1985, पृ०-131
16. एच०डब्लू० कर 'लाइवनिट्ज' अर्नेस्ट वर्न लंदन, 1929, पृ०-43
17. फ्रैंक थिली-ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी, सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद 1985, पृ०-133-39
18. 'डी०जे०ओ० कोनर (सं०) 'ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी' द फ्री प्रेस ऑफ ग्लेन्साथ लंदन 1964, पृ०-337
19. संगम लाल पाण्डेय (सं०) 'प्राब्लेम्स ऑफ डेथ इपिस्टिमोलॉजी' कौल लाइब्रेरी ऑफ फिलॉसॉफी, यूनि० ऑफ इलाहाबाद 1987, पृ०-76-86
20. विलियम पैली 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ मारल एण्ड पॉलिटिकल फिलॉसॉफी', पृ०-914 उद्धृत वेद प्रकाश वर्मा-अधि-नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त, अलाईड पब्लिशर्स लिमिटेड पृ० 125
21. कार्ल वार्थ-'दि डॉक्ट्रिन ऑफ दि वर्ड ऑफ गॉड', पृ०-14 उद्धृत वेद प्रकाश वर्मा-अधि-नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त, अलाईड पब्लिशर्स लि० पृ०-126
22. कार्ल वार्थ-'दि वर्ड ऑफ गॉड एण्ड दि वर्ड ऑफ मैन-', पृ० 138, 292-293 उद्धृत वही पृ०-127
23. वही, पृ०-157, 166
24. वही, पृ०-159
25. वही, पृ०-181
26. एमिल ब्रूनर-'दि डिवाइन इम्परेटिव'-पृ०-28, उद्धृत वेद प्रकाश वर्मा-अधि-नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त, अलाईड पब्लिशर्स पृ०-128
27. वही, पृ०-32-33
28. वही, पृ०-53, 58, 83
29. वही, पृ०-338
30. रीनोल्ड नीबुर-'ऐन इण्टरप्रोटेसन ऑफ क्रिश्चियन एथिक्स' पृ०-124, उद्धृत वही पृ०-130
31. रीनोल्ड नीबुर-'दि नेचर एण्ड डेस्टिनी ऑफ मैन'-पृ०-117, उद्धृत वही पृ०-130
32. वही, पृ०-125
33. जान ई० स्मिथ-'रीजन एण्ड गॉड-एन्काउन्टर्स ऑफ फिलॉसॉफी विद रिलिजन' पृ०-197-201



अध्याय-3 : विज्ञानसम्मत अनीश्वरवाद तथा उसके निहितार्थ

(क) विकासवादी व्याख्या : चार्ल्स डार्विन

(ख) मार्क्सवादी-मानववादी व्याख्या

1. मार्क्सवादी व्याख्या

2. मानववादी व्याख्या : एम0एम0 राय :

## विज्ञानसम्मत अनीश्वरवाद तथा उसके निहितार्थ

पिछले अध्याय में हमने ईश्वरवाद के निहितार्थ का ज्ञानमीमांसीय, नैतिक एवं समाजशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया प्रस्तुत अध्याय में विज्ञानसम्मत अनीश्वरवाद तथा उसके निहितार्थ का विवेचन विकासवादी व्याख्या एवं मार्क्सवादी-मानववादी व्याख्या के सन्दर्भ में, करने का प्रयास करेंगे।

### (क) विकासवादी व्याख्या

ईश्वर के विरुद्ध सर्वाधिक गम्भीर चुनौती विभिन्न क्षेत्रों में अनेक क्रांतिकारी वैज्ञानिक अनुसंधानों ने प्रस्तुत की है। पन्द्रहवीं शताब्दी तक विज्ञान के उदय से पूर्व यूरोप तथा विश्व के अनेक सभी भागों में धर्म का अखण्ड साम्राज्य रहा है। इस सम्पूर्ण दीर्घ काल में मानव-जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था जिसमें धार्मिक मान्यताओं, परम्पराओं तथा विश्वासों का सुदृढ़ शासन न रहा हो। पिछले 500 वर्षों में प्रकृति, ब्रह्माण्ड तथा मानव जीवन से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में विज्ञान की सहायता से अनेक ऐसे क्रांतिकारी अनुसंधान हुए हैं जिन्होंने युगों से प्रचलित धार्मिक मान्यताओं परम्पराओं एवं विश्वासों को मिथ्या एवं निराधार प्रमाणित कर दिया है। इन वैज्ञानिक अनुसंधानों के परिणामस्वरूप ही मनुष्य यह जान सका है कि ब्रह्माण्ड की रचना, उसके स्वरूप, पृथ्वी पर जीवन के उदय तथा विकास के विषय में विभिन्न धर्म ग्रंथों में जो कुछ कहा गया है वह वस्तुतः अप्रमाणिक एवं निराधार है। उदाहरणार्थ—शताब्दियों से अनेक धर्म ग्रंथों में यह घोषित किया जाता रहा है कि हमारी पृथ्वी ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। सूर्य सहित सभी ग्रह इसी की परिक्रमा करते हैं, समस्त भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों, मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को ईश्वर ने ही उनके वर्तमान रूप में उत्पन्न किया है। इन सब में मनुष्य का ही सर्वाधिक महत्व है क्योंकि ये सभी अन्ततः उसी के कल्याण एवं विकास के साधन मात्र हैं परन्तु मात्र 5 शताब्दियों में भौतिकी, रसायन विज्ञान, सृष्टि विज्ञान, जीव विज्ञान, भू-गर्भ शास्त्र, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के अन्तर्गत वैज्ञानिकों द्वारा जो अनुसंधान किये गये हैं उन सभी ने इन सभी धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। 15वीं शताब्दी के महान वैज्ञानिक कॉपरनिकस (1473-1543) ने यूरोप में सर्वप्रथम यह क्रांतिकारी सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी सहित सौर मण्डल के समस्त ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं। स्पष्टतः इसका अर्थ यह है कि हमारी पृथ्वी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र न होकर अन्य अनेक ग्रहों की भाँति केवल एक साधारण ग्रह है। आज हमें यह विचार बहुत साधारण प्रतीत होता है किन्तु उस युग में इसने यूरोप में बहुत बड़ी उथल-पुथल उत्पन्न कर दी थी। धर्मपरायण विचारकों ने तो इसे पूर्णतः अस्वीकार कर ही दिया था तत्कालीन वैज्ञानिकों ने भी इसे सरलता पूर्वक स्वीकार नहीं किया। यह कहा

जाता है कि स्वयं वैज्ञानिकों द्वारा इस क्रांतिकारी सिद्धान्त को स्वीकार करने में 100 वर्ष से भी अधिक समय लग गया। इस विलम्ब का कारण यह था कि धर्मपरायण विचारकों की भाँति उस समय के वैज्ञानिक भी ब्रह्माण्ड के विषय में प्राचीनकाल से प्रचलित धार्मिक विश्वास का परित्याग करने के लिए उद्धत नहीं थे। परन्तु विलम्ब से ही सही अन्ततः धर्म की पहली बड़ी पराजय थी जिसने उस युग के कुछ विचारकों के मन में तत्कालीन धार्मिक विश्वासों के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया। इस प्रकार विज्ञान तथा धर्म में वह संघर्ष आरम्भ हुआ जो 19वीं शताब्दी के अन्त तक स्पष्ट रूप से निरन्तर चलता रहा और जो किसी न किसी रूप में आज भी चल रहा है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विज्ञान और धर्म के उपर्युक्त संघर्ष के प्रारम्भिक युग में अधिकतर वैज्ञानिकों पर भी धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों का बहुत गहरा प्रभाव था। इसी कारण धर्मपरायण विचारकों की भाँति वे भी वैज्ञानिक अनुसंधानों के उन निष्कर्षों को स्वीकार करने में बहुत संकोच एवं कठिनाई का अनुभव करते थे जो इन धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों के विरुद्ध थे। स्वयं गैलीलियो ने भी कॉपरनिकस के सिद्धान्त को बड़ी कठिनाई से स्वीकार किया था। महान वैज्ञानिक न्यूटन भी कुछ वैज्ञानिक निष्कर्षों को स्वीकार करने में इसी कठिनाई का अनुभव करते थे क्योंकि वे स्वभावतः धर्मपरायण व्यक्ति थे गुरुत्वाकर्षण के नियम के आधार पर वे ग्रहों की जिन अनियमितताओं की व्याख्या नहीं कर सके उनके निराकरण के लिए उन्होंने समय-समय पर ईश्वर के हस्तक्षेप का सहारा लिया। इसे उनके वैज्ञानिक चिन्तन की सबसे बड़ी दुर्बलता माना जा सकता है। परन्तु इस दुर्बलता को स्वीकार करते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि गुरुत्वाकर्षण के नियम से सम्बन्धित अपने क्रांतिकारी अनुसंधान द्वारा न्यूटन ने ब्रह्माण्ड विषयक मिथ्या धार्मिक विश्वास का खण्डन करने में पर्याप्त सीमा तक सहायता की। इस नियम ने ग्रहों के संचालन तथा नियंत्रण में ईश्वर की भूमिका को बहुत सीमित कर दिया।

आगे चलकर न्यूटन के इसी गुरुत्वाकर्षण के नियम में संशोधन करके वैज्ञानिक लॉप्लॉस (1749-1827) ने ईश्वर के हस्तक्षेप के बिना ही ग्रहों के भ्रमण तथा उनकी अनियमितताओं के निराकरण की व्याख्या की। अपने अनुसंधान द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित किया कि ग्रहों की अनियमिततायें प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्वतः ही दूर हो जाती हैं, इसके लिए ईश्वर के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती। न्यूटन के विपरीत वे यह भी मानते थे कि इन ग्रहों की रचना ईश्वर ने नहीं की और वह उनका संचालन भी नहीं करता। इस प्रकार न्यूटन के वैज्ञानिक चिन्तन पर धर्म का जो प्रभाव था उससे लॉप्लॉस के अनुसंधान पूर्णतः मुक्त रहे, फलस्वरूप उनका चिन्तन विशुद्ध वैज्ञानिक रहा। आधुनिक वैज्ञानिक भी समस्त प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या के लिए इसी धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण का अनुसरण करते हैं, किसी भी प्राकृतिक प्रक्रिया अथवा घटना के स्वरूप को

## 66 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

समझने के लिए वे केवल प्राकृतिक कारणों की ही खोज करते हैं अतिप्राकृतिक कारणों की नहीं। इस प्रकार गत कुछ शताब्दियों में विज्ञान ने धर्म को ब्रह्माण्ड के स्वरूप तथा विकास की व्याख्या के क्षेत्र से पूर्णतः बहिष्कृत कर दिया है जिसे विज्ञान के समक्ष धर्म की दूसरी बड़ी पराजय के रूप में समझा जाता है।

वैज्ञानिकों के ब्रह्माण्ड सम्बन्धी अनुसंधानों के अतिरिक्त 19वीं शताब्दी के एक अन्य वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन (1809—1882) के क्रांतिकारी अनुसंधानों ने भी धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों को भारी आघात पहुँचाया। अपने विकासवादी सिद्धान्त द्वारा डार्विन ने यह निश्चित रूप से प्रमाणित किया कि ईश्वर ने प्राणियों की रचना नहीं की है, और मनुष्य मूलतः अन्य प्राणियों से भिन्न कोई विशेष प्राणी नहीं है। 30 वर्षों से अधिक समय तक विभिन्न प्राणियों की जातियों के विकास का निरन्तर अध्ययन करने के पश्चात् डार्विन ने अपने विकासवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो मुख्यतः “प्राकृतिक चुनाव” तथा “योग्यतम की उत्तरजीविता” इन दो अवधारणाओं पर आधारित है। अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तक “ओरिजिन ऑफ स्पीशीज” तथा डिसेन्ट ऑफ मैन” में उन्होंने विकासवादी सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना की है जो क्रमशः 1859 और 1871 में प्रकाशित हुई।

## चार्ल्स डार्विन

वैज्ञानिक जगत में विशेष ख्याति प्राप्त सुप्रसिद्ध प्राणि वैज्ञानिक चार्ल्स राबर्ट डार्विन ने स्पष्ट एवं व्यवस्थित ढंग से विकासवादी सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए मानव समाज में महान वैचारिक क्रान्ति को जन्म दिया। यहाँ निरीश्वरवाद की दृष्टि से उनके इस विकासवादी सिद्धान्त पर विचार एवं व्याख्या प्रस्तुत करेंगे क्योंकि उनका यह सिद्धान्त अन्य बहुत से प्रचलित विश्वासों के साथ-साथ ईश्वर विषयक विश्वास का भी निषेध करता है। डार्विन ने, जर्मन दार्शनिक फायरबॉक की भांति ही, जो उनके समकालीन थे ईश्वर के सत्ता के समर्थन में दिये गये प्रमाणों का स्पष्टतः खण्डन नहीं किया और न ही उन्होंने उसके अस्तित्व के विरुद्ध अपने कोई विशेष तर्क प्रस्तुत किये हैं। परन्तु जिस प्रकार फायरबॉक ने अपने मनोवैज्ञानिक प्रक्षेप—सिद्धान्त द्वारा ईश्वर को मनुष्य की अपनी भ्रामक कल्पना मात्र सिद्ध किया है उसी प्रकार डार्विन ने भी अपने जैविक विकासवाद द्वारा विश्व की उत्पत्ति तथा विकास के लिए ईश्वर के परम्परागत विचार को अनावश्यक और व्यर्थ प्रमाणित किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि डार्विन का विकासवाद ईश्वरवाद के लिए वास्तव में उतना ही घातक है जितना फायरबॉक का प्रक्षेप सिद्धान्त। अतः यह निश्चय

पूर्वक कहा जा सकता है कि डार्विन का विकासवाद निरीश्वरवाद की पुष्टि करता है।

जैसा कि हम जानते हैं कि शताब्दियों से सभी ईश्वरवादी धर्मों के अनुयायी तथा ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले दार्शनिक यह मानते रहे हैं कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है और उसी ने समस्त भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों एवं प्राणियों की जातियों को उनके वर्तमान रूप में जन्म दिया है। विश्व की उत्पत्ति और उसके विकास से सम्बन्धित ईश्वरवादियों के इसी सिद्धान्त को 'सृष्टिवाद' की संज्ञा दी जाती है। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में हुए वैज्ञानिक अनुसंधानों के परिणाम स्वरूप जैविक विकासवाद के उदय से पूर्व सम्पूर्ण पाश्चात्य जगत में इसी सिद्धान्त को पूर्णतः सत्य तथा प्रमाणिक माना जाता था। केवल सामान्य धर्मपरायण व्यक्ति ही नहीं, अपितु महान ईश्वरवादी दार्शनिक भी इस सृष्टिवाद के आधार पर जगत की उत्पत्ति और उसके विकास की व्याख्या करते थे। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व में जो कुछ और जिस रूप में है उसे स्वयं ईश्वर ने ही उसी रूप में जन्म दिया है। अतः किसी प्रकार के मिक विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः यह सृष्टिवाद ईश्वरवाद का यह अनिवार्य पक्ष है जिसे स्वीकार किये बिना उसका कोई महत्व नहीं रह जाता। परन्तु डार्विन तथा अन्य विकासवादियों का जैविक विकासवाद ईश्वरवादियों के इस सृष्टिवाद का वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा खण्डन करके उनके ईश्वरवाद को तार्किक दृष्टि से असत्य और अप्रमाणिक सिद्ध करता है।

डार्विन के विकासवाद का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि केवल प्राकृतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत करोड़ों वर्षों में अनिवार्य प्राकृतिक नियमों के परिणामस्वरूप ही सभी पेड़-पौधों तथा जीवों की जातियों का क्रमिक विकास हुआ है। जिसका स्पष्ट अर्थ यही है कि इन जातियों को ईश्वर या अन्य किसी दैवी शक्ति ने उत्पन्न नहीं किया। अपने इस विकासवाद की व्याख्या के लिए वे एक विशेष नियम को सर्वाधिक महत्व देते हैं जिसे उन्होंने 'प्राकृतिक चयन का नियम' कहा है। डार्विन का मत है कि समस्त पेड़-पौधों तथा प्राणियों की जातियों का विकास इस प्राकृतिक चयन के नियमों के अनुसार होता है और उनके विकास की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इस नियम की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि प्रकृति के अन्तर्गत प्राणियों की सभी जातियों में अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए सतत् संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष में किसी जाति के कुछ सदस्यों में संयोगवश ऐसे शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होते हैं जिनके कारण उनका अस्तित्व बना रहता है और ये लाभदायक परिवर्तन वंश परम्परा के नियम के अनुरूप उनकी संतानों में भी आ जाते हैं जिनके फलस्वरूप उनकी संख्या में वृद्धि होती है। इन परिवर्तनों के कारण ये सभी सदस्य अपने आपको परिवर्तित वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं और उनका यह अनुकूलन ही अन्ततः उनके अस्तित्व को बनाये रखने तथा

## 68 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

उनकी संख्या की वृद्धि में निर्णायक सिद्ध होता है। किसी जाति के जिन सदस्यों में ये लाभदायक परिवर्तन उत्पन्न नहीं होते वे अपने आपको परिवर्तित वातावरण के अनुकूल बनाने में असमर्थ रहते हैं और इसी कारण अन्ततः नष्ट हो जाते हैं। डार्विन के अनुसार जातियों के जन्म, विकास तथा विनाश की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया इस अर्थ में प्राकृतिक है कि यह केवल अनिवार्य प्राकृतिक नियमों द्वारा निर्धारित एवं शासित होती है और इसी कारण इस प्रक्रिया में ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता के हस्तक्षेप के लिए कोई स्थान नहीं है। इसी प्राकृतिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ नयी जातियों का जन्म तथा विकास होता है और कुछ अन्य पूर्ववर्ती जातियाँ नष्ट हो जाती हैं। इस पृथ्वी पर पेड़-पौधों तथा प्राणियों की जो जातियाँ विद्यमान हैं वे सब प्राकृतिक चयन के नियम पर आधारित इसी प्रक्रिया में अपनी सफलता के कारण उत्पन्न और विकसित हुईं, अतः यही जैविक विकास का मूल नियम है जो ईश्वर सहित अन्य समस्त अतिप्राकृतिक सत्ताओं से स्वतंत्र है।

डार्विन ने प्राकृतिक चयन के नियम का महत्व स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “मेरा पूर्ण विश्वास है कि जातियाँ अपरिवर्तनशील नहीं हैं। .. इसके अतिरिक्त मेरा यह विश्वास है कि प्राकृतिक चयन परिवर्तन का

एक मात्र साधन न होते हुए भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन रहा है।”<sup>1</sup> पुनः इस नियम के अनुसार जातियों में अपने अस्तित्व के लिए होने वाले संघर्ष के महत्व की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि “इस संघर्ष के कारण किसी जाति के व्यक्तियों में होने वाले परिवर्तन चाहें वे कितने ही कम हों तथा किसी भी कारण से उत्पन्न हुए हों यदि वे अन्य प्राणियों और इन व्यक्तियों के जीवन की भौतिक परिस्थितियों के अत्यधिक जटिल सम्बन्धों की दृष्टि से इनके लिए किसी भी मात्रा में लाभदायक हैं तो वे इन व्यक्तियों की सुरक्षित रखने में सहायक सिद्ध होंगे और सामान्यतः वंशानुक्रम के नियम के अनुसार इनकी संतानों द्वारा प्राप्त किये जायेंगे।”<sup>2</sup> डार्विन का विचार है कि प्राकृतिक चयन का यह नियम एक ही जाति के व्यक्तियों के विकास पर भी उसी प्रकार लागू होता है जिस प्रकार भिन्न जातियों के व्यक्तियों के विकास पर। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डार्विन समस्त जातियों की उत्पत्ति तथा उनके विकास एवं विनाश की व्याख्या मुख्यतः प्राकृतिक चयन के नियम के अनुसार करते हैं जो धार्मिक और तत्वमीमांसीय मान्यताओं से पूर्णतः स्वतंत्र है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है। कि डार्विन ने मनुष्य की उन विशेषताओं की व्याख्या भी अपने विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर ही की है जिनके कारण मनुष्य को अन्य प्राणियों से भिन्न और उनकी अधिक उत्कृष्ट माना जाता है। इन विशेषताओं में मनुष्य की अद्वितीय शारीरिक



आकार, उसकी बौद्धिक शक्ति, भाषा बोलने तथा लिखने की क्षमता, प्रेम एवं सहानुभूति आदि भावनायें सौन्दर्यानुभूति और नैतिक चेतना सम्मिलित है।

डार्विन निश्चित रूप से यह दावा करते हैं कि मानव के सम्बन्ध में अद्वितीय माने जाने वाली इन सभी विशेषताओं को उनके जैविक

विकासवाद द्वारा भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है।<sup>3</sup> उनका कथन है कि ये विशेषताये मूलरूप में अन्य प्राणियों विशेषतः उच्च कोटि के पशुओं में भी पायी जाती है किन्तु इनका अधिकतम विकास मनुष्य में ही हुआ है। अपने विकास की प्रक्रिया में जब वह अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा था तो इस संघर्ष के परिणामस्वरूप धीरे-धीरे उसमें इन विशेषताओं का विकास हुआ जो उसे इस पृथ्वी पर सर्वोत्तम प्राणी के पद तक पहुँचाया। इन विशेषताओं ने मनुष्यों को समाज में परस्पर मिल कर रहना, सहयोग करना और एक दूसरे की रक्षा करना सिखया जो अन्ततः मानव जाति के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुई। डार्विन का विचार है कि इसी कारण मनुष्य के जैविक विकास की दृष्टि से उसकी बौद्धिक शक्ति, सामाजिक भावना तथा नैतिक चेतना का विशेष महत्व है किन्तु उसमें इन विशेषताओं का विकास

भी प्राकृतिक चयन के नियम के अनुसार ही हुआ है।<sup>4</sup> इस प्रकार मनुष्य के विषय में डार्विन का अंतिम निष्कर्ष यही है कि विकास की दृष्टि से अन्य सभी प्राणियों की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत होते हुए भी मनुष्य वास्तव में अन्य प्राकृतिक प्राणियों से मूलतः भिन्न नहीं है।<sup>5</sup>

डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों की विवेचना के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ईश्वरवाद तथा प्रचलित धार्मिक विश्वासों पर इसका क्या प्रभाव पड़ा। जैविक विकासवाद के सम्बन्ध में डार्विन के उपर्युक्त परम्परा विरोधी विचारों के कारण पाश्चात्य वैज्ञानिक जगत में तीव्र उथल-पुथल आरम्भ हुई और जीवन तथा जगत के विषय में विचारकों एवं वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

यद्यपि विज्ञान का पर्याप्त विकास हो जाने के पश्चात भी 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब डार्विन अपने विकासवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे, विश्व की उत्पत्ति और उसके विकास की व्याख्या ईसाई धर्म के मूल सिद्धान्तों, विशेषतः ईश्वरवाद के आधार पर ही की जाती थी। उस समय अधिकतर विचारक यह मानते थे कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है और उसी ने समस्त भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों तथा प्राणियों की जातियों को उस रूप में उत्पन्न किया है जिस रूप में वे अब विद्यमान हैं। ईश्वर द्वारा उत्पन्न प्राणियों की प्रत्येक जाति की अपनी अलग-अलग विशेषताएं होती हैं जिनमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। इस सम्पूर्ण विश्व का केन्द्र मनुष्य ही है, क्योंकि ईश्वर ने उसे स्वयं अपने रूप में

## 70 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

उत्पन्न किया है और अन्य सभी वस्तुओं, पेड़-पौधों तथा प्राणियों को केवल उसी के सुख के लिए जन्म दिया है जिस पृथ्वी पर मनुष्य निवास करता है वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और ईश्वर के आदेशानुसार सभी ग्रह-नक्षत्र उसकी परिक्रमा करते हैं। इस विश्व की उत्पत्ति के मूल में ईश्वर का विशेष प्रयोजन है जिसकी पूर्ति के लिए उसने स्वयं इसमें निश्चित व्यवस्था स्थापित की है। जगत में जो कुछ होता है वह सब ईश्वर के इसी प्रयोजन की पूर्ति का साधन मात्र है। अपने इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए ईश्वर ने ही प्रकृति तथा समस्त प्राकृतिक नियमों को जन्म दिया है, अतः वह स्वयं प्रकृति से परे और इसका स्वामी है। वह इस प्रकृति के नियमों में हस्तक्षेप करके समय-समय पर अनेक प्रकार के चमत्कार उत्पन्न करता है जो उसके भक्तों को सुख और उसकी निंदा करने वाले व्यक्तियों को दुःख पहुँचाते हैं। 'बाइबल' में जो कुछ लिखा है वह स्वयं 'ईश्वर की वाणी' होने के कारण पूर्ण एवं अकाट्य सत्य है। इस प्रकार डार्विन के समय में अधिकतर विचारक इन सभी धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से स्वीकार करते थे और इन्हीं के आधार पर विश्व की उत्पत्ति तथा उसके विकास की व्याख्या करते थे। इतना ही नहीं बहुत से वैज्ञानिक भी इस धार्मिक दृष्टिकोण के प्रबल समर्थक थे और वे वैज्ञानिक सिद्धान्तों को भी उस रूप में प्रस्तुत करते थे, जिस रूप में वे इस दृष्टिकोण का पूर्णतः समर्थन करें। इसी अर्थ में वे विज्ञान तथा धर्म को परस्पर पूरक और एक दूसरे का सहायक मानते थे।

पूर्व में हम देख चुके हैं कि डार्विन का विकासवादी सिद्धान्त ईश्वरवाद पर आधारित ईसाई धर्म के उपर्युक्त दृष्टिकोण का निषेध करता है क्योंकि उनके सिद्धान्त में ईश्वर, आत्मा अथवा किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता के लिये कोई स्थान नहीं है। डार्विन ने विकास की जो प्रकृतिवादी व्याख्या की है उससे यह स्पष्ट है कि वे इस विश्व को ईश्वर की रचना नहीं मानते और इस प्रकार ईसाई धर्म के सृष्टिवाद का खण्डन करते हैं। हम देख चुके हैं कि उनके अनुसार जीवन का मूल आधार भौतिक तत्व है और इस विश्व में सभी जातियों का विकास बहुत दीर्घकालीन प्राकृतिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ है। जिसमें प्राकृतिक चयन के नियम की प्रमुख भूमिका रही है। डार्विन कहते हैं कि प्राकृतिक नियमों के अनुसार जातियों के विकास और विनाश की यह प्राकृतिक प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है जिसमें ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति का कोई हस्तक्षेप संभव नहीं है।<sup>6</sup> इस प्रकार उनका विकासवादी सिद्धान्त ईसाई धर्म के सृष्टिवाद को पूर्णतः अस्वीकार करता है।

डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त का दूसरा निषेधात्मक अर्थ यह है कि इस विश्व के मूल में कोई प्रयोजन नहीं है। वस्तुतः ईश्वरवादियों का यह प्रयोजनवाद उनके सृष्टिवाद का ही अनिवार्य परिणाम है, यदि

सृष्टिवाद मिथ्या है तो उस पर आधारित यह प्रयोजनवाद स्वतः ही मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। इसका कारण यह है कि जब विश्व का कोई रचयिता ही नहीं है तो उसके द्वारा इसके मूल में कोई प्रयोजन निश्चित करने और इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए विशेष व्यवस्था स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकृति में समस्त घटनाएं एवं क्रियाएं उसके अपने भौतिक एवं यांत्रिक नियमों के अनुसार होती हैं। अतः उनका कोई प्रयोजन नहीं होता। उकने मूल में मनुष्य के लिये विशेष प्रयोजन खोजना प्रकृति का मानवीकरण करना है जिसका कोई तर्क संगत आधार नहीं है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि डार्विन द्वारा प्रयोजनवाद के इस निषेध के फलस्वरूप ईश्वर की सत्ता के समर्थन में दी जाने वाली उस प्रयोजनमूलक युक्ति का स्पष्टतः खण्डन होता है, जिसे उकने समय में उसके अस्तित्व के लिए बहुत महत्वपूर्ण युक्ति माना जाता था। वस्तुतः उनके विकासवादी सिद्धान्त में ईश्वरवादी विचारकों की इस प्रयोजन परक युक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। यदि ईश्वर की रचना नहीं की जैसा कि डार्विन का निश्चित मत है, तो ईश्वरवादी दार्शनिकों द्वारा यह दावा करना व्यर्थ और निराधार है कि उसी ने इसमें व्यवस्था स्थापित की है। इस प्रकार डार्विन प्रयोजनपरक युक्ति का निषेध करके ईश्वरवाद का खण्डन करते हैं।

पुनः डार्विन ने अपने विकासवादी सिद्धान्त द्वारा मनुष्य की वह तथाकथित दैवी प्रतिष्ठा समाप्त कर दी जिसके कारण ईसाई धर्म के विचारक उसे ईश्वर की विशेष अद्वितीय कृति, सम्पूर्ण सृष्टि का केन्द्र तथा उसका स्वामी मानकर प्राणी जगत में उसे सर्वोच्च स्थान देते हैं। डार्विन की मान्यता है कि यद्यपि मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान तथा उत्कृष्ट है फिर भी उनसे मूलतः भिन्न नहीं है। क्योंकि उसका विकास भी उन्हीं प्राकृतिक नियमों के अनुसार हुआ है जो अन्य सभी प्राणियों पर लागू होते हैं। अतः मनुष्य विश्व का केन्द्र और उसका स्वामी न होकर वह भी अन्य सभी प्राणियों की भांति इस विशाल प्रकृति का एक छोटा सा अंश मात्र है।<sup>8</sup>

ईश्वर, जगत एवं मनुष्य के सम्बन्ध में डार्विन के उपर्युक्त परम्परा विरोधी विचारों के परिणामस्वरूप धर्मपरायण विचारकों को बहुत बड़ा धक्का लगा और इसी कारण उन्होंने व्यक्तिगत रूप से स्वयं डार्विन की तथा उनके विकासवादी सिद्धान्त की तीव्र निंदा की थी। 1860 में इसकी समीक्षा करते हुए धर्मपरायण विचारक विलबरफोर्स ने मनुष्य से सम्बन्धित उनके विकासवादी सिद्धान्त को मिथ्य सिद्ध करने का प्रयास किया था। इस सिद्धान्त को ईसाई धर्म के पूर्णतः विरुद्ध बताते हुए उन्होंने लिखा था "पृथ्वी पर मनुष्य की ईश्वर प्रदत्त सर्वोच्चता, भाषा तथा बोलने के सम्बन्ध में मनुष्य की क्षमता, मनुष्य की तर्कशक्ति का उपहार ..... मनुष्य का पतन तथा मनुष्य की मुक्ति, अनश्वर पुत्र का अवतार ये सब पशु से उस मनुष्य की

## 72 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

उत्पत्ति के पतित विचार के साथ समान रूप से तथा पूर्णतः असंगत है जिसे ईश्वर ने अपनी आकृति के रूप में उत्पन्न किया था और उसे अनश्वर पुत्र ने स्वयं उसी का रूप धारण करके मुक्त किया था।<sup>9</sup> विलबरफोर्स के उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि वे मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में केवल अपनी आस्था के आधार पर तथा बिना किसी प्रमाण के ईसाई धर्म के ईश्वरवादी सिद्धान्त को पूर्णतः सत्य और डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त को पूर्ण रूप से मिथ्या मान लेते हैं। उनकी भाँति अन्य अनेक धर्मपरायण विचारकों ने भी अपने इसी तर्क हीन पूर्वाग्रह के आधार पर डार्विन और उनके विकासवादी सिद्धान्त की तीव्र निंदा की थी। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि दार्शनिक एवं तार्किक दृष्टि से इस प्रकार की पूर्वाग्रह युक्त निंदा तथा आलोचना का कोई महत्व नहीं है।

डार्विन के समकालीन तथा परवर्ती विचारकों पर उकने विकासवादी सिद्धान्त का जो व्यापक प्रभाव पड़ा है वह भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि अनुभव, निरीक्षण एवं तर्क का समर्थन करने वाले दार्शनिकों ने धर्मपरायण व्यक्तियों की उपर्युक्त पक्षपात पूर्ण और पूर्वाग्रह से ग्रस्त आलोचना की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। विकासवादी के समर्थक यह भली-भाँति जानते थे कि धार्मिक दृष्टिकोण के साथ इस सिद्धान्त की संगति स्थापित करना संभव नहीं है, अतः विश्व की व्याख्या के लिये उन्होंने परम्परागत दृष्टिकोण के स्थान पर विकासवाद को ही स्वीकार किया क्योंकि वह तथ्यों एवं प्रमाणों पर आधारित वैज्ञानिक सिद्धान्त था।

19वीं शताब्दी में जिन विचारकों ने इस सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रबल समर्थन किया था उनमें टामस हेन्ड हक्स्ले, अरन्स्ट हैकल, पीटर क्रोपोटकिन तथा हरबर्ट स्पेंसर के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी विचारक किसी न किसी रूप में विकासवादी सिद्धान्त को पूर्ण रूपेण स्वीकार किया तथा साथ ही साथ इस सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार भी किया। यहाँ तक कि हरबर्ट स्पेंसर ने विकासवादी सिद्धान्त के सभी प्रमुख पक्षों की विस्तृत व्याख्या करने के लिए 'सिथेटिक फिलॉसॉफी' नामक पुस्तक लिखी जो दस खण्डों में प्रकाशित हुई। स्पेंसर ने इस सिद्धान्त के विषय में एक विशेष नियम का प्रतिपादन किया था जिसे उन्होंने 'क्रमिक विकास का सार्वभौम नियम' की संज्ञा दी। जिसके अनुसार— प्रकृति में सभी वस्तुओं का विकास क्रमशः सरलता से अधिकाधिक जटिलता की ओर एक चरम सीमा तक होता है तत्पश्चात् उनका हास आरम्भ हो जाता है। अपने इस व्यापक नियम को संसार की समस्त वस्तुओं पर लागू करते हुए उन्होंने केवल पेड़-पौधों और प्राणियों की जातियों के विकास की ही नहीं अपितु समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र आदि विधाओं के विकास की व्याख्या भी विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर की थी। इस प्रकार स्पेंसर ने डार्विन के जैविक विकासवाद को अधिक जटिल तथा व्यापक रूप में प्रस्तुत किया।

डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त से प्रभावित जिन विचारकों का उल्लेख ऊपर किया गया है वे सभी प्रकृतिवाद और अज्ञेयवाद में विश्वास करते थे जिसका तात्पर्य यह है कि वे भी डार्विन के समान व्यापक अर्थ में निरीश्वरवादी विचारक थे। इन विचारकों के अतिरिक्त अन्य अनेक समकालीन और परवर्ती विचारकों को भी डार्विन के जैविक विकासवाद ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निरीश्वरवाद का समर्थन करने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया था। यथा— कार्ल मार्क्स डार्विन के विचारों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि वे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि कैपिटल' का दूसरा खण्ड उन्हें समर्पित करना चाहते थे जो उन दो अंतिम खण्डों में से एक था जिनका संपादन मार्क्स की मृत्यु के पश्चात उनके मित्र एंगल्स ने किया था। इसी प्रकार रूसी विचारक ब्लादिमीर कोवलेवस्की और अमेरिकी विचारक आसा ग्रे भी डार्विन के विकासवाद का समर्थन करते थे।

स्पष्टतः 19वीं शताब्दी के वैचारिक जगत पर डार्विन का अत्यधिक प्रभाव दृष्टगोचर होता है। उनके प्रभाव को स्पष्ट करते हुए पाश्चात्य विद्वान एच० जेम्स बर्क्स ने लिखा है "डार्विन के पास जीव विज्ञान की कोई शैक्षणिक उपाधि नहीं थी उन्होंने महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय के स्तर पर कभी अध्यापक कार्य नहीं किया ..... उनकी सम्पूर्ण कृतियों ने पुराने सिद्धान्तों, विश्वासों तथा मूल्यों को चुनौती दी।..... विकासवाद ने जीव-जगत तथा भौतिक सत्ता को विज्ञान एवं तर्क के दृष्टिकोण से देखने का बिल्कुल नया मार्ग प्रदान किया। विश्व सम्बन्धी यह नवीन दृष्टिकोण धर्मशास्त्र और रहस्यवाद पर आधारित अन्य सभी पूर्ववर्ती विचारधाराओं के ठीक विपरीत था इसने भौतिक तत्व से जीवन के उद्गम को स्पष्टतः प्रस्तुत किया। वस्तुतः डार्विन ने तत्वमीमांसीय सिद्धान्तों अथवा धार्मिक विश्वासों का सहारा लेने की कोई आवश्यकता ही अनुभव नहीं की।.. ..... सर्वाधिक व्यापक अर्थ में डार्विनवाद की महत्वपूर्ण प्रतिध्वनियों मानवीय विचार के दूरतम प्रदेशों तक पहुँची है बौद्धिक संसार विकासवाद और इसके गहरे प्रभावों की उपेक्षा नहीं कर सकता।<sup>10</sup>

इस प्रकार विकासवादी सिद्धान्त पर निष्पक्ष रूप से विचार करने के पश्चात् विज्ञान और तर्क में विश्वास करने वाले किसी भी विचारक के लिए अब ईश्वरवाद का तार्किक दृष्टि से समर्थन करना सम्भव नहीं है। ऐसा कोई भी विचारक अब यह नहीं मानता कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है और उसी ने एक विशेष समय पर तथा एक विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए समस्त भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों एवं प्राणियों की जातियों को उनके वर्तमान रूप में उत्पन्न किया है। इस धर्मपरायण ईश्वरवादी दृष्टिकोण के विपरीत अब सभी निष्पक्ष विचारक प्राणी वैज्ञानिक विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर विश्व के विकास की व्याख्या करते हैं।

## (ख) मार्क्सवादी—मानववादी व्याख्या

## (1) मार्क्सवादी व्याख्या —

19वीं शताब्दी के महान जर्मन दार्शनिक एवं साम्यवाद के प्रणेता कार्ल मार्क्स (1818—1883) ने भी पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद के विकास एवं प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान किया था। मार्क्सवादी विचारधारा के फलस्वरूप विश्व के अनेक देशों में भौतिकवाद और निरीश्वरवाद का पर्याप्त प्रसार हुआ। अपनी कृतियों में ईश्वरवाद और धर्म की कटु आलोचना करते हुए उन्होंने समाज में जिस अभूतपूर्व क्रांति को जन्म दिया था उसका सम्पूर्ण विश्व पर व्यापक प्रभाव पड़ा जो आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। यहाँ हम ईश्वरवाद तथा धर्म के सम्बन्ध में मार्क्स के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

मार्क्स ने ईश्वरवाद तथा धर्म के विषय में अपनी अनेक कृतियों में विस्तारपूर्वक परम्परा विरोधी विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने इन दोनों की जो कटु आलोचना की है वह मुख्यतः सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक है। फायरबॉक तथा डार्विन की भांति मार्क्स भी ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध कोई सैद्धान्तिक तर्क प्रस्तुत नहीं करते और न ही वे उन दार्शनिक युक्तियों का खण्डन करते हैं जो ईश्वरवादी विचारक ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए देते रहे हैं। वस्तुतः ईश्वरवाद से संबंधित इस दार्शनिक पक्ष में मार्क्स की कोई रुचि नहीं थी क्योंकि वे सामाजिक क्रांति के लिये इस प्रकार के सैद्धान्तिक वाद—विवाद को व्यर्थ समझते थे। उनका उद्देश्य दार्शनिक दृष्टि से ईश्वरवाद तथा धर्म को पराजित करके सैद्धान्तिक विजय प्राप्त करना नहीं था, अपितु उस सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना था जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को स्वीकृति देकर इन दोनों को उत्पन्न करती है। वे ईश्वरवाद तथा धर्म को समाप्त करके मनुष्य को इन दोनों के सामाजिक दुष्प्रभाव से मुक्त करना चाहते थे। इसी कारण वे जिस निरीश्वरवाद का समर्थन करते थे उसे 'सैद्धान्तिक निरीश्वरवाद' के स्थान पर 'व्यावहारिक निरीश्वरवाद' अथवा 'सामाजिक निरीश्वरवाद' की संज्ञा देना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। मार्क्स के निरीश्वरवाद की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें मनुष्य और उसके प्रयास या श्रम को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। अतः इसे 'मानव केन्द्रित निरीश्वरवाद' भी कहा जा सकता है। मार्क्स मनुष्य की और शोषण मुक्त वर्गहीन मानव समाज की जो नवीन अवधारणा प्रस्तुत करते हैं उसमें ईश्वर अथवा किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। मानव सम्बन्धी अपनी इस नवीन अवधारणा में वे ईश्वर के स्थान पर स्वयं मनुष्य को ही सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका विचार

है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग का निर्माता है और अब तक उसने जो कुछ प्राप्त किया है वह उसके अपने ही प्रयास का परिणाम है। मार्क्स ने लिखा है कि— “मैं स्वर्ग और पृथ्वी के उन सभी देवताओं से घृणा करता हूँ

जो मनुष्य की चेतना को सर्वोच्च देवत्व के रूप में स्वीकार नहीं करते।”<sup>1</sup> वस्तुतः मार्क्स ने जिस वर्गहीन साम्यवादी समाज की अवधारणा प्रस्तुत की है उसमें ईश्वर तथा धर्म की कोई प्रासंगिकता और भूमिका नहीं है। वे मानते हैं कि स्वयं मनुष्य ही इस प्रकार के आदर्श समाज का निर्माण कर सकता है, इसमें ईश्वर का कोई योगदान नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अस्तित्व ही नहीं है। संभवतः अपनी इसी मान्यता के कारण वे ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध कोई तर्क देना आवश्यक नहीं समझते। वे ईश्वर के अनस्तित्व को एक तथ्य के रूप में स्वीकार करते हुए उन दुष्प्रभावों का सविस्तार विवेचन करते हैं जो उससे सम्बन्धित विश्वास और उस पर आधारित धर्म के कारण मानव समाज पर अनिवार्यतः पड़ते हैं। उनका मत है कि साम्यवादी समाज की स्थापना के पश्चात् ईश्वर विषयक विश्वास तथा धर्म की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और इनके कारण मानव समाज के पहुँचने वाली हानियाँ भी स्वतः समाप्त हो जायेगी।<sup>12</sup>

ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करने के अतिरिक्त मार्क्स ने मानव-समाज में धर्म की भूमिका की भी कटु आलोचना की है। ‘धर्म’ से मार्क्स का तात्पर्य वह संस्थागत जीवन पद्धति से है जिसका मूल आधार ईश्वर विषयक विश्वास है और जो अलौकिक धार्मिक विश्वासों तथा अनुष्ठानों के माध्यम से सभी मनुष्यों के जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित करती है। उन्होंने धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि वे मूलतः ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, यहूदी धर्म आदि ईश्वरवादी धर्मों से ही परिचित थे। संभवतः इसी कारण उन्होंने अपनी धर्म विषयक विवेचना में बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि निरीश्वरवादी धर्मों का उल्लेख नहीं किया। परन्तु इससे उनकी धर्म सम्बन्धी आलोचना के औचित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि सभी धर्म चाहे वे ईश्वरवादी हो अथवा निरीश्वरवादी— मूलतः किसी अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता में आस्था पर ही आधारित रहते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि मार्क्स ने ईश्वरवादी धर्म की जो तीव्र आलोचना की है वह निरीश्वरवादी धर्मों पर भी पर्याप्त सीमा तक लागू होती है। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने समाज में ईश्वरवादी धर्मों की भूमिका के विरुद्ध जो गम्भीर आपत्तियाँ उठायी हैं वे निरीश्वरवादी धर्मों के विरुद्ध भी उठाई जा सकती हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि मार्क्स द्वारा प्रयुक्त ‘धर्म’ शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए उसके अंतर्गत ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी दोनों प्रकार के धर्मों को सम्मिलित किया जा सकता है।

## 76 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

माक्स की मान्यता है कि धर्म के उद्गम का मूल स्रोत ईश्वर या कोई अन्य दैवी सत्ता नहीं है और न ही वह मनुष्य के किसी नैसर्गिक मूल प्रवृत्ति का परिणाम है। उनका विचार है कि धर्म मनुष्य के लिए उस अर्थ में स्वाभाविक और अनिवार्य नहीं है जिस अर्थ में भूख, प्यास, काम—वासना आदि मूल प्रवृत्तियाँ हैं। बल्कि इसके विपरीत माक्स का विचार है कि धर्म को उस अन्यायपूर्ण सामंतवादी तथा पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था ने जन्म दिया है जिसके अन्तर्गत कुछ मनुष्य अन्य मनुष्यों पर अत्याचार करते हैं और उनका आर्थिक शोषण करते हैं। अर्थात् धर्म की उत्पत्ति का मूल स्रोत अन्याय, अत्याचार तथा शोषण पर आधारित सामंतवादी एवं पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था ही है। जब तक यह सामाजिक व्यवस्था बनी रहेगी तब तक मानव—समाज में धर्म की आवश्यकता भी विद्यमान रहेगी और जब इस व्यवस्था का अंत हो जायेगा तो धर्म भी स्वतः समाप्त हो जायेगा। माक्स की मान्यता है कि अन्याय, शोषण तथा अत्याचार से मुक्त वर्गहीन साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था में धर्म की कोई भूमिका नहीं होगी। ऐसी व्यवस्था में उसका समाप्त हो जाना अनिवार्य है।<sup>13</sup>

धर्म और मनुष्य के सम्बन्ध के विषय में, सामाजिक भूमिका की दृष्टि से विचार करते हुए माक्स कहते हैं कि—“धर्म मनुष्य का निर्माण नहीं करता, अपितु स्वयं मनुष्य ही धर्म का निर्माण करता है अथवा उसे जन्म देता है।”<sup>14</sup> माक्स पुनः कहते हैं कि सभी मनुष्यों के लिए धर्म की भूमिका समान या एक ही नहीं होती वस्तुतः शासक और श्रमिक इन दो वर्गों में विभाजित समाज में पूँजीपति शासक वर्ग द्वारा श्रमिकों का शोषण किया जाता है जिसके फलस्वरूप उन्हें अत्यन्त कष्टप्रद जीवन व्यतीत करना पड़ता है। ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि अलौकिक सत्ताओं से सम्बन्धित विश्वास पर आधारित धर्म उन्हें इस बात के लिए तैयार करता है कि वे अपने जीवन के इस सम्पूर्ण दुःख को बिना किसी विरोध या विद्रोह के चुपचाप सहन कर लें। धर्म उन्हें विश्वास दिलाता है कि वे इस संसार में जो दुःख भोग रहे हैं वह उनके अपने दुष्कर्मों अथवा पापों का परिणाम है, जिसका अर्थ यह है कि उनका यह दुःख न्यायोचित है।

इसके अतिरिक्त माक्स के अनुसार धर्म श्रमिकों को यह आश्वासन भी देता है कि वे अपने वर्तमान जीवन में जिन कष्टों तथा अभावों का सामना कर रहे हैं उन सबकी क्षतिपूर्ति उनकी मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में हो जायेगी। यह जीवन तो नश्वर है, अतः उनके वर्तमान सांसारिक दुःख भी क्षणिक और अस्थायी है। स्वर्ग में वे सभी प्रकार के भौतिक सुखों का उपभोग कर सकेंगे। माक्स का कथन है कि “धर्म का यह आश्वासन श्रमिकों के मन में मिथ्या संतोष उत्पन्न करता है और इस प्रकार यह उनके जीवन में एक ऐसी अफीम का कार्य करता है जिसे खाकर वे भ्रम—पूर्ण सुख निद्रा



में सो जाते हैं।<sup>15</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स का निश्चित मत है कि धर्म श्रमिकों को काल्पनिक स्वर्ग का स्वप्न दिखाता है और उन्हें इस स्वर्ग में सुखों की प्राप्ति का मिथ्या आश्वासन देता है जिसके कारण वे अपने वर्तमान दुःखों को भूलकर शासक वर्ग द्वारा स्थापित अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में सदैव पूर्णतः संतुष्ट रहते हैं।

धर्म की इस भूमिका को मार्क्स ने ईसाई धर्म के प्रकाश में उदाहरण देकर स्पष्ट कहता है कि— “ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धान्तों ने प्राचीन काल की दासता को न्यायोचित सिद्ध किया, मध्य युगों की गुलामी को महिमामंडित किया और वे अब भी श्रमिक वर्ग के दमन का समर्थन करते हैं, यद्यपि वे इस सम्बन्ध में दुःख व्यक्त करने का ढोंग करते हैं। ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धान्त शासक वर्ग तथा दलित वर्ग की आवश्यकता का प्रचार करते हैं और वे केवल यही चहाते हैं कि शासक वर्ग दलित वर्ग पर दया करे।..... ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धान्त कायरता, आत्म-तिरस्कार, तुच्छता, पराधीनता आदि निकृष्ट गुणों का प्रचार करते हैं, “श्रमिक वर्ग जो कुत्ते की भांति अपमानित नहीं होना चाहता— के लिए साहस, आत्म सम्मान, गर्व तथा स्वतंत्रता की चेतना की आवश्यकता है।”<sup>16</sup> अन्य धर्मों के सम्बन्ध में भी उनका यही विचार है कि वे भी मुख्यतः

ऐसी ही भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार धर्म नरक के भ्रामक भय तथा स्वर्ग—सुख के मिथ्या आश्वासन द्वारा श्रमिक वर्ग की अपनी वर्तमान दयनीय अवस्था में पूर्णतः संतुष्ट रहने के लिये प्रेरित करता है जिससे उस पर पूँजीपति शासक वर्ग का पूर्ण वर्चस्व सदा बना रह सके।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्क्स के अनुसार धर्म पूँजीपति शासक वर्ग के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होता है। धर्म श्रमिक वर्ग के साथ—साथ शासक वर्ग को भी यह विश्वास दिलाता है कि वास्तव में यह व्यवस्था ईश्वर की इच्छा का परिणाम है। अतः इसे बनाये रखना उचित और आवश्यक है। इस व्यवस्था के विरुद्ध या क्रांति को ‘पाप’ बताकर धर्म शासक वर्ग के हितों की पूर्ण रूप से रक्षा करता है। धर्म द्वारा इस दृष्टिकोण के प्रचार के कारण उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का एकाधिकार सुरक्षित रहता है और श्रमिक उसे किसी प्रकार की चुनौती नहीं दे पाते।

इसके अतिरिक्त धर्म भौतिक सुखों के स्थान पर पारलौकिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का प्रचार करके भी शासक वर्ग की बहुत सहायता करता है। इस प्रचार के कारण श्रमिकों को यह विश्वास हो जाता है कि धन सम्पत्ति और सत्ता से संबंधित सांसारिक सुखों की अपेक्षा धार्मिक अनुष्ठानों, संतों के प्रति श्रद्धा, इश्वरोपासना आदि आध्यात्मिक मूल्यों का कहीं अधिक महत्व है, अतः वे अपनी भौतिक सुख—समृद्धि के लिए शासक वर्ग के विरुद्ध करने की बात कभी सोच भी नहीं पाते। वे अपने समस्त

## 78 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

सांसारिक दुःखों को स्वयं अपने ही पापों के परिणाम अथवा ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा की परीक्षा मानकर उन्हें चुपचाप सहन करते रहते हैं। जिससे अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए शासक वर्ग द्वारा स्थापित अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था सुरक्षित रहती है। अपने वर्तमान कष्टों को क्षणिक मानकर श्रमिक वर्ग इस व्यवस्था में परिवर्तन करने का प्रयास ही नहीं कर पाता। वह अपनी निराशा, वेदना तथा शासक वर्ग द्वारा अपने दमन को विश्व के विषय में ईश्वर की विशाल योजना का अनिवार्य अंश मान लेता है और मरणोत्तर जीवन में अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। श्रमिकों के इस धार्मिक दृष्टिकोण का सम्पूर्ण लाभ शासक वर्ग को ही प्राप्त होता है जो निर्भय होकर अपनी सत्ता और सुख समृद्धि में निरन्तर वृद्धि करता रहता है। इस प्रकार मार्क्स का निश्चित मत है कि धर्म द्वारा भौतिक सुखों की निंदा तथा आध्यात्मिक मूल्यों का प्रचार अतः शासक वर्ग की स्वार्थ-सिद्धि में ही सहायक होता है।<sup>17</sup>

आध्यात्मिक मूल्यों के साथ-साथ मार्क्स के अनुसार धर्म कुछ ऐसे मूल्यों का भी प्रचार करता है जो दासता सम्बन्धित मूल्य हैं। अपने शत्रुओं से प्रतिशोध न लेना, आत्म तिरस्कार, तुच्छता, धैर्य, सहनशीलता, समर्पण आदि ऐसे मूल्य हैं जिन्हें मार्क्स ने 'दासता सम्बन्धित मूल्य' कहा है। उनका विचार है कि इन मूल्यों का प्रचार करके धर्म शासक वर्ग की बहुत सहायता करता है, क्योंकि इनके अनुसार आचरण करने वाले श्रमिक सदा उसके अधिकार में ही बने रहते हैं। वे शासक वर्ग द्वारा स्थापित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का कभी विरोध नहीं करते। इन मूल्यों के कारण जीवन के प्रति श्रमिकों का दृष्टिकोण कायरतापूर्ण हो जाता है जिसका शासक वर्ग पूरा लाभ उठाता है। वह उनका अधिकाधिक शोषण करता है और उन्हें अपने नियंत्रण में रखना अपना ईश्वर प्रदत्त अधिकार समझता है। धर्म शासक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग दोनों को यह विश्वास दिलाता है कि शासकों एवं पूँजीपतियों की उत्कृष्टता और श्रमिकों की निकृष्टता स्वयं ईश्वर द्वारा स्थापित की गयी है अतः इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। इन दोनों वर्गों की इस मानसिकता के कारण लाभ केवल शासक वर्ग को ही होता है जो अपने आपको श्रमिक वर्ग का ईश्वर द्वारा नियुक्त संरक्षक तथा स्वामी मान लेता है। इस प्रकार मार्क्स के विचार में धर्म जिन दासता सम्बन्धी मूल्यों की शिक्षा देता है। वे शासक वर्ग के लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होते हैं। परन्तु उनका कथन है कि श्रमिक वर्ग के लिए इन मूल्यों के स्थान पर साहस, आत्म-सम्मान, निर्भयता, गर्व, स्वतंत्रता आदि मूल्यों की आवश्यकता है जिन्हें उन्होंने 'क्रांतिकारी मूल्य' कहा है। मार्क्स के अनुसार, ये क्रांतिकारी मूल्य ही श्रमिकों को शासक वर्ग के शोषण अन्याय और अत्याचार से मुक्ति दिला सकते हैं। परन्तु धर्म शासक वर्ग की चुनौती

देने वाले इन मूल्यों को निकृष्ट तथा निदानीय मानता है और श्रमिकों को इनके अनुसार आचारण न करने के लिए प्रेरित करता है।<sup>18</sup>

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मार्क्स द्वारा की गयी धर्म की उपर्युक्त आलोचना तथ्यपरक है, क्योंकि यह धर्म के विषय में उस प्रचलित सामान्य दृष्टिकोण पर आधारित है जिसका समर्थन उने पूर्ववर्ती विचारक प्रायः करते रहे हैं। इन विचारकों ने समाज में धर्म की लगभग वही भूमिका स्वीकार की है जिसे मार्क्स ने प्रस्तुत किया है। यथा—विलबफोर्स ईसाई धर्म की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि—“धन की चमक को कम तथा सत्ता की धृष्टता को संयमित करते हुए वह सामाजिक व्यवस्था की असमानताओं को निम्न स्तर के लोगों के लिए कम पीड़ादायक बनाता है जिन्हें वह परिश्रमी, विनम्र, धैर्यवान होने की भी शिक्षा देता है। वह उन्हें याद दिलाता है कि उनकी बहुत निम्न स्थिति स्वयं ईश्वर ने ही उनके लिए निर्धारित की है, उनका यह कार्य है कि वे इस स्थिति से संबंधित कर्तव्यों को निष्ठापूर्वक पूरा करें और इसी से संतुष्ट रहते हुए इसके कष्टों को सहन करें। वर्तमान अवस्था बहुत अल्पकालीन है। जिन वस्तुओं के लिये सांसारिक लोग बड़ा उत्सुकता से संघर्ष करते हैं वे इस संघर्ष के योग्य नहीं हैं। धर्म बिना किसी भेदभाव के सभी लोगों को जो मानसिक शांति प्रदान करता है वह उन समस्त कीमती सूखों की अपेक्षा वास्तव में अधिक संतोषजनक है जो निर्धन व्यक्ति की पहुँच से परे है। इस दृष्टिकोण के अनुसार निर्धन व्यक्ति लाभदायक स्थिति में है, और यदि उनके मालिक बहुत से सूखों का आनन्द प्राप्त करते हैं तो वे अनेक ऐसी प्रलोभनों के भी शिकार हो जाते हैं जिनसे निम्न वर्ग सहर्ष मुक्त है।..... सभी दुःखों के होते हुए भी निर्धन लोगों के जीवन की स्थिति उसकी अपेक्षा अधिक अच्छी है जिसके वे ईश्वर की इच्छा के अनुसार अधिकारी हैं। ..... समस्त मानवीय भेदभाव शीघ्र ही समाप्त हो जायेंगे और ईसा मसीह के सभी सच्चे अनुयायी एक ही पिता की संतान के रूप में समान रूप से एक ही स्वर्ग में प्रवेश प्राप्त करेंगे। राजनीतिक समुदायों के सांसारिक कल्याण पर ईसाई धर्म के ये ही शुभ प्रभाव हैं।<sup>19</sup> विलबफोर्स के इस विस्तृत उद्धरण से स्पष्ट है कि वे श्रमिक वर्ग तथा शासक वर्ग के संबंध में धर्म की उसी सामाजिक भूमिका का पूर्णतः समर्थन करते हैं जिसकी मार्क्स ने कटु आलोचना की है।

ईसाई धर्म की भांति विश्व के अन्य धर्म भी किसी न सिक्की रूप में इसी धार्मिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं किन्तु मार्क्स को धर्म का यह प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण बिल्कुल स्वीकार्य नहीं है। इसी कारण उन्होंने धर्म की अन्याय पूर्ण सामाजिक भूमिका का तीव्र विरोध किया है वे उन सभी आश्वासनों को मिथ्या और भ्रामक मानते हैं जो धर्म के समर्थक शताब्दियों से श्रमिक वर्ग को देते रहे हैं। उनके विचार में इन आश्वासनों के एक मात्र उद्देश्य अन्याय, अत्याचार तथा शोषण पर आधारित वर्तमान सामाजिक

## 80 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

व्यवस्था को बनाए रखते हुए शासक वर्ग के हितों की रक्षा करना ही है। अतः उन्होंने श्रमिक वर्ग को इन भ्रामक आश्वासनों के धोखे में न आने के लिए प्रेरित किया है जिससे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जा सके जो न्याय, समानता और स्वतंत्रता पर आधारित हो।

वस्तुतः मार्क्स जिस सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना चाहते थे वह यूरोप में औद्योगिक क्रांति के परिणाम स्वरूप विकसित पूँजीवादी व्यवस्था थी। क्योंकि उनकी मान्यता थी कि श्रमिक वर्ग का शोषण ही इस पूँजीवादी व्यवस्था का मूल आधार है और प्रशासक, पुलिस, न्यायालय, राजनीति तथा धर्म इस व्यवस्था को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होते हैं। अतः इस अमानवीय व्यवस्था को बदल कर उसके जगह पर 'वर्गहीन साम्यवादी समाज' की स्थापना करना ही मार्क्स का मूल उद्देश्य था। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता सभी मनुष्यों के स्वतंत्र विकास की अनिवार्य शर्त होगी, सभी व्यक्तियों की समानता एवं प्रतिष्ठा को स्वीकार किया जायेगा और कोई एक वर्ग दूसरे का शोषण नहीं कर सकेगा। उत्पादन के समस्त साधनों पर निजी स्वामित्व समाप्त कर दिया जायेगा और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का लक्ष्य किसी एक व्यक्ति का लाभ न होकर सभी मनुष्यों का हित होगा। इस नये समाज में सेना, पुलिस तथा न्यायालयों की कोई आवश्यकता नहीं होगी। जिनका प्रयोग शासक वर्ग स्वयं अपने लाभ के लिए करता है। मार्क्स का कथन है कि इस नये वर्गविहीन साम्यवादी समाज में धर्म का स्वतः ही अंत हो जायेगा, क्योंकि इसमें श्रमिक वर्ग को उसके कष्टों की क्षतिपूर्ति के लिए स्वर्ग के मिथ्या आश्वासन की आवश्यकता नहीं रहेगी। मार्क्स ने लिखा है कि— "लोगों के भ्रमपूर्ण सुख के रूप में धर्म को समाप्त करना आवश्यक है जिससे वे अपना वास्तविक सुख प्राप्त कर सकें। ..... मनुष्य को सोचने, कार्य करने तथा अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से की गयी धर्म की आलोचना उसे भ्रम से मुक्त करती है और इस प्रकार अपनी तर्कशक्ति के आधार पर उस आत्म निर्भर बनाती है।"<sup>20</sup>

धर्म की उपर्युक्त आलोचना के अतिरिक्त 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' का प्रतिपादन करके मार्क्स ने मूलतः निरीश्वरवाद का ही समर्थन किया है। उनका यह ऐतिहासिक भौतिकवाद उस तत्वमीमांसीय भौतिकवाद से भिन्न है जिसका प्रतिपादन उनके पूर्ववर्ती भौतिकवादी दार्शनिकों ने किया था। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित—'ऐतिहासिक भौतिकवाद' का तात्पर्य यह है कि उनके अनुसार मानव समाज के विकास का सम्पूर्ण इतिहास और मनुष्य की समस्त दार्शनिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक तथा आर्थिक विचारधारायें उत्पादन के भौतिक साधनों द्वारा निर्धारित होती है। अतः इनकी व्याख्या भी इन्हीं साधनों के आधार पर की जा सकती है।

उन्होंने इस ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रतिपादन अपने गुरु हेगेल के प्रत्ययवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में किया था जिसके अनुसार निरपेक्ष परमतत्त्व मनस् अथवा चेतना ही ब्रह्माण्ड का मूलतत्त्व है।

हेगेल के इस प्रत्ययवाद के विपरीत मार्क्स का यह निश्चित मत है कि मनस् अथवा चेतना का जन्म भी मूलतः उत्पादन के भौतिक साधनों से ही होता है, किसी दैवी या आध्यात्मिक सत्ता से नहीं। इन भौतिक साधनों पर आधारित समाज का अर्थतंत्र मनुष्य के समस्त विचारों, सिद्धान्तों, मूल्यों तथा आदर्शों को निर्धारित करता है। अतः यही उसके भौतिक और वैचारिक जीवन की वास्तविक आधारशिला है। पुनः मार्क्स कहते हैं कि— “भौतिक जीवन से सम्बन्धित उत्पादन का तरीका जीवन की सामाजिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करता है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, अपितु इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को ही सम्पूर्ण मानवीय चेतना और उससे उत्पन्न समस्त विचारों, आदर्शों, मूल्यों तथा सिद्धान्तों का मूल आधार मानते हैं। मार्क्स के भौतिकवादी विचारधारा के बारे में एंगल्स कहते हैं “जिस प्रकार डार्विन ने जैविक प्रकृति में विकास के नियम को खोजा था, उसी प्रकार मार्क्स ने मानव इतिहास में विकास के नियम की खोज की थी जिसका संबंध एक ऐसे साधारण तथ्य से था जो इससे पहले विचारधाराओं के झाड़-झंखाड़ में छिपा हुआ था। वह तथ्य यह था कि मनुष्यों द्वारा राजनीति, विज्ञान, कला तथा धर्म पर ध्यान देने से पूर्व उन्हें सबसे पहले भोजन, पानी, मकान और वस्त्र मिलने चाहिए। इसलिए जीवन के भौतिक साधनों का उत्पादन वह आधार है जिससे राज्य की संस्थाओं, कानूनी सिद्धान्तों, कला एवं लोगों के धार्मिक विचारों का विकास हुआ है और जिसके द्वारा उनकी व्याख्या की जानी चाहिए।”<sup>22</sup> अतः इन विचारों से स्पष्ट है कि मार्क्स तत्वमीमांसीय भौतिकवाद के स्थान पर व्यावहारिक अथवा आर्थिक भौतिकवाद को स्वीकार करते थे। मार्क्स समस्त आध्यात्मिक विचारों तथा सिद्धान्तों की व्याख्या अपनी इसी विशेष भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर करते हुए ईश्वरवाद अथवा किसी अन्य अलौकिक सत्ता का समर्थन नहीं करते हैं।

उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए आधुनिक विद्वानों का कहना है कि यद्यपि परम्परागत सैद्धान्तिक निरीश्वरवाद में मार्क्स की कोई रुचि नहीं थी फिर भी वे ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करने के कारण व्यावहारिक निरीश्वरवाद का निश्चित रूप से समर्थन करते थे। मार्क्स को मानवतावादी तथा निरीश्वरवादी विचारक घोषित करते हुए पैट्रिक मास्टरसन कहते हैं “फायरवाक के स्पष्ट निरीश्वरवादी मानवतावाद को मार्क्स के दर्शन में अधिक गहरा तथा शक्तिशाली बनाया गया। जिसने मनुष्य, समाज और इतिहास के विषय में क्रांतिकारी एवं गतिशील अवधारणा को प्रस्तुत किया।

## 82 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

इसके पश्चात् होने वाली घटनाओं ने, जिनके कारण मार्क्सवाद एक शक्तिशाली विश्वव्यापी विचारधारा हो गयी है, इस दर्शन को समकालीन निरीश्वरवाद के सर्वाधिक प्रभावशाली स्रोतों में से एक बना दिया है। अपने अध्ययन के उस प्रारम्भिक काल से ही मार्क्स पूर्णतः निरीश्वरवादी थे जब उनका सम्पर्क हेगेल के युवा अनुयायियों के साथ हुआ था जिन्होंने हेगेल के दर्शन का प्रयोग धर्म तथा राजनीति की तीव्र आलोचना के लिए किया। उनकी सबसे पहली कृतियों में निरीश्वरवाद को मनुष्य के सम्बन्ध में उनकी अवधारणा की अनिवार्य विशेषता घोषित किया गया है उदाहरणार्थ, 1841 में लिखे अपने शोध प्रबंध में वे बड़ी दृढ़ता से यह घोषित करते हैं कि मनुष्य ही सर्वोच्च सत्ता है, ईश्वर नहीं।<sup>23</sup>

इसी प्रकार क्लिफोर्ड ग्रीन ने भी मार्क्स को व्यावहारिक तथा सामाजिक दृष्टि से 19वीं शताब्दी का महत्वपूर्ण निरीश्वरवादी विचारक माना है। वे मार्क्सवादी दर्शन के उस व्यावहारिक पक्ष को विशेष महत्व देते हैं जिसमें ईश्वरवाद तथा धर्म की प्रतिक्रियात्मक सामाजिक भूमिका की कटु आलोचना की गयी है। इसी दृष्टि से मार्क्स के व्यावहारिक और सामाजिक निरीश्वरवाद की व्याख्या करते हुए ग्रीन ने लिखा है—“प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मार्क्स निरीश्वरवादी थे। उन्होंने यह शिक्षा दी थी कि लोगों को धर्म का अंत करना पड़ेगा। स्वर्ग की काल्पनिक क्षतिपूर्तियों को नष्ट करना होगा।..... मनुष्यों की शक्तियों को समाजवादी क्रांति के लिए मुक्त करना होगा। वास्तविक सांसारिक सुख साम्यवादी समाज में ही प्राप्त हो सकेगा। इस नये समाज में धर्म सदा के लिए व्यर्थ हो जायेगा।..... मार्क्स 'सामाजिक निरीश्वरवादी' ईश्वरवाद विरोधी नहीं, वे धर्म की सामाजिक भूमिका पर विचार करते हैं, ईश्वर के अस्तित्व या अनस्तित्व के विषय में दार्शनिक वाद-विवाद पर नहीं।..... वे ईश्वरवाद विरोधी न होकर उस प्रतिक्रियात्मक सामाजिक भूमिका के आलोचक हैं जो धर्म शोषणपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का समर्थन करने में निभाता है। वे सैद्धान्तिक वाद-विवाद में उलझकर ऐसी आलोचना करते हैं जो राजनैतिक कार्य का मूल प्रेरणा स्रोत है। उनका उद्देश्य वाद-विवाद में विजय प्राप्त करना नहीं, अपितु सामाजिक क्रांति उत्पन्न करना है।<sup>24</sup> क्लिफोर्ड ग्रीन की इस व्याख्या में मार्क्स के सामाजिक निरीश्वरवाद की उन प्रमुख विशेषताओं को स्पष्टतः प्रस्तुत किया गया है जो उसे परम्परागत निरीश्वरवादी दार्शनिक के सैद्धान्तिक निरीश्वरवाद से पृथक करती है। वस्तुतः मार्क्स ऐसे ही सामाजिक निरीश्वरवाद का आवश्यक मानते हैं।

इस प्रकार मार्क्स की विचारधारा का विवेचन करने के उपरान्त निष्कर्षतः यह परिलक्षित होता है कि वस्तुतः उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था के जिन गंभीर दोषों का वर्णन किया था वे इस व्यवस्था के अनिवार्य दोष हैं जो आज भी किसी न किसी रूप में इसमें विद्यमान हैं।

साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था की भाँति मार्क्स द्वारा किया गया धर्म की सामाजिक भूमिका का विश्लेषण भी उचित एवं तर्क संगत प्रतीत होता है। शासक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग के लिये धर्म आज भी वही प्रतिक्रियात्मक सामाजिक भूमिका निभा रहा है जिसका वर्णन मार्क्स ने किया था और जिसके कारण उन्होंने धर्म की तीव्र आलोचना की थी। काल्पनिक स्वर्ग के मिथ्या आश्वासनों द्वारा दुर्बल श्रमिक वर्ग के शोषण तथा सबल शासक वर्ग की सुख-समृद्धि में धर्म अब भी अपना महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है। यही कारण है कि धर्म गुरुओं तथा शासकों में शताब्दियों से सदैव घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और वे अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए एक दूसरे की पूर्ण रूप से सहायता भी करते रहे हैं। धर्म की प्रतिक्रियात्मक सामाजिक भूमिका की आलोचना करके मार्क्स ने इसी कटु तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था।

धर्म के अतिरिक्त ईश्वरवाद के संबंध में मार्क्स ने अपना जो व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था उसका भी मनुष्य के सामाजिक जीवन के लिए बहुत महत्व है। क्योंकि ईश्वर विषयक विश्वास केवल सैद्धान्तिक विश्वास नहीं है अपितु मनुष्य के विचारों के साथ-साथ उसके आचरण पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इसी कारण ईश्वरवाद पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करते हुए मार्क्स ने सैद्धान्तिक निरीश्वरवाद के स्थान पर व्यावहारिक अथवा सामाजिक निरीश्वरवाद का प्रतिपादन किया।

## 2. मानववादी व्याख्या : एम0 एन0 रॉय

मूलतः प्रकृतिवादी तथा वैज्ञानिक विचाराधारा के पोषक एम0 एन0 रॉय ईश्वर, देवी-देवता अथवा अन्य किसी अलौकिक शक्ति अथवा सत्ता में विश्वास नहीं करते। कांतिकारी विचारक तथा मानवतावाद के प्रबल समर्थक रॉय पहले राष्ट्रवाद तथा साम्यवाद से प्रभावित हुये परन्तु बाद में इन दोनों विचारधाराओं की सीमाओं एवं कमियों को भली-भाँति समझते हुए अपने परवर्ती जीवन में इन संकुचित विचारधाराओं के स्थान पर व्यक्ति की स्वतंत्रता, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और मानवतावाद का सशक्त रूप में समर्थन किया इसके अतिरिक्त वे पूर्णतः भौतिकवादी दार्शनिक थे। चार्चाक दार्शनिकों के समान उन्होंने भी ईश्वर के अस्तित्व के साथ-साथ आत्मा, पुनर्जन्म तथा मोक्ष से सम्बन्धित सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से निषेध किया है। यद्यपि राय के दर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक है जिसमें दर्शनशास्त्र की सामान्य विधाओं ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा के अतिरिक्त राजनीति दर्शन, समाज दर्शन, धर्म दर्शन आदि महत्वपूर्ण शाखाएं भी सम्मिलित हैं। यहां हमारा उद्देश्य राय के दर्शन के इन सभी पक्षों पर विचार करना नहीं अपितु केवल उनके निरीश्वरवादी सिद्धान्त की विवेचना करना ही है।

रॉय निरीश्वरवाद को पूर्णतः स्वीकार करते हैं, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करने के लिए उन्होंने स्वतंत्र रूप से अपने कोई

## 84 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

विशेष मौलिक तर्क प्रस्तुत नहीं किये। वस्तुतः राय का निरीश्वरवाद उनकी अनुभवमूलक यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा तथा भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा का ही अनिवार्य परिणाम है। चार्वाक दार्शनिकों की भाँति रॉय भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तथा अनुभव को ही वाह्य जगत के ज्ञान के प्रमुख स्रोत मानते हैं। उनका मत है कि भौतिक वस्तुओं का मनुष्य के मन से स्वतंत्र तथा वस्तुपरक अस्तित्व है और वह अपनी इन्द्रियों द्वारा इन वस्तुओं को उसी रूप में जानता है जिस रूप में वे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु जगत से भिन्न ऐसा कोई अन्य जगत नहीं है जिसे मनुष्य नहीं जान सकता और जो वस्तु-जगत का मूल आधार है। वास्तव में मनुष्य का विचार अथवा उसकी चेतना अंततः भौतिक जगत पर ही निर्भर है। वह जिस वस्तु को प्रत्यक्ष तथा अनुभव द्वारा नहीं जान सकता उसके अस्तित्व को स्वीकार करने का कोई तर्क संगत आधार नहीं है। मुख्यतः अपनी इसी मान्यता के कारण राय ने ईश्वर सहित समस्त अलौकिक सत्ताओं का खण्डन किया है जिन्हें मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि से परे माना जाता है। इस प्रकार ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से वे केवल अनुभववाद तथा यथार्थवाद में ही विश्वास करते हैं। अतः उन्होंने प्रत्ययवाद, विज्ञानवाद आदि ऐसे सभी सिद्धान्तों को अस्वीकार किया है जो प्रत्यय, विचार या चेतना को ही ज्ञान का मूल स्रोत मानते हैं। उनका विचार है कि ये सिद्धान्त मनुष्य के इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तथा अनुभव को पर्याप्त महत्व न देने के कारण उसकी ज्ञान प्रक्रिया की समुचित व्याख्या नहीं कर पाते। हमारे समक्ष जो वाह्य जगत विद्यमान हैं और जिसका हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं उसे केवल आभास अथवा मिथ्या मानना सत्य एवं वास्तविकता की उपेक्षा करना है।

अपनी अनुभवमूलक यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा की व्याख्या करते हुये रॉय ने लिखा है “भौतिकवाद के मूल सिद्धान्तों में से एक यह भी है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है। इस सिद्धान्त का अर्थ है जन्मजात प्रत्ययों का निषेध। चेतना का वाह्य वस्तुओं से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।..... वस्तुओं की यथार्थ वस्तुपरक सत्ता को स्वीकार करना भौतिकवाद का प्रारम्भिक सिद्धान्त है।..... वैज्ञानिक ज्ञान का दावा करने वाला कोई व्यक्ति आज इस बात में संदेह नहीं करता कि वृक्ष से सम्बन्धित हमारी अवधारणा ठीक वैसी ही होती है जैसा कि स्वयं वृक्ष है। जब से मनुष्य ने अपनी क्रियाओं द्वारा प्रकृति से परिचित होना आरम्भ किया तभी से इस प्रकार का संदेह समाप्त हो गया था।..... मनुष्य जिसको प्रत्यक्षतः जानता है उसका वास्तव में अस्तित्व है और जिसे मनुष्य नहीं जान सकता उसका अस्तित्व नहीं है।”<sup>25</sup>

ज्ञानमीमांसा की भाँति रॉय ने अपने दर्शन की तत्त्वमीमांसा की व्याख्या भी अपनी भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर ही की। चार्वाक दार्शनिकों के समान रॉय का भी स्पष्ट तथा निश्चित मत है कि सम्पूर्ण



ब्रह्माण्ड का अंतिम मूल तत्व भौतिक द्रव्य अथवा पुद्गल है और इसमें जिन प्राणियों, पेड़-पौधों तथा निर्जीव वस्तुओं का अस्तित्व है उन सबका निर्माण भौतिक परमाणुओं से ही हुआ है। अतः वह भी पुद्गल से पूर्णतः पृथक और स्वतंत्र नहीं है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भौतिक, शाश्वत, अनश्वर तथा स्वतः अस्तित्ववान है। राय का कथन है कि हम जगत की समस्त वस्तुओं तथा घटनाओं की व्याख्या भौतिकवाद के अनुरूप अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों के आधार पर ही कर सकते हैं, इसके लिए ईश्वर, आत्मा या किसी अन्य अलौकिक सत्ता की कोई आवश्यकता नहीं है। इस जगत में ऐसी कोई वस्तु और घटना नहीं हो सकती जो इन अनिवार्य प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हो। समुचित निरीक्षण तथा सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा हम प्रत्येक वस्तु और घटना के प्राकृतिक कारणों को जान सकते हैं। अतः इस जगत में प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने वाले तथाकथित चमत्कारों की कोई संभावना नहीं है। केवल आस्था पर आधारित इंद्रियातीत सत्ताओं को मानदण्ड बनाकर हम विश्व की उत्पत्ति और उसके विकास की समुचित व्याख्या नहीं कर सकते।

रॉय के मतानुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भौतिक परमाणुओं के संघात का ही परिणाम है जिसका कोई रचयिता और संचालक नहीं है। वैज्ञानिक विचारधारा विश्व के रचयिता के रूप में सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ ईश्वर की प्राक्कल्पना का समर्थन नहीं करती। इसी प्रकार शरीर से पृथक एवं स्वतंत्र अभौतिक आत्मा की प्राक्कल्पना भी निराधार है, क्योंकि प्राणी की मृत्यु के पश्चात् उसका कुछ भी शेष नहीं रह जाता। जिसे 'आत्मा' कहा जाता है, वह वास्तव में प्राणी की चेतना है जो भौतिक परमाणुओं के संघात से उत्पन्न होती है। प्राणी के शरीर से पृथक आत्मा की सत्ता और अमरता को अस्वीकार करने के कारण रॉय उस पर आधारित पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भी खण्डन करते हैं। वे इस सिद्धान्त को प्रशासक वर्ग के समर्थक पुरोहितों की चातुर्यपूर्ण कल्पना मानते हैं जो समाज में उनकी उच्च स्थिति को बनाये रखने के लिए ही की गयी है।<sup>2</sup> इस प्रकार पूर्णतः भौतिकवादी दार्शनिक होने के कारण रॉय भी चार्वार्क दार्शनिकों की भाँति उन सभी अलौकिक सत्ताओं तथा सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं जो केवल आस्था पर आधारित हैं और जिनके लिए हमारे पास कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है।

रॉय भौतिकवादी तत्वमीमांसा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—“वस्तुतः दर्शन भौतिकवाद है और भौतिकवाद ही एक मात्र संभव दर्शन है इसका कारण यह है कि भौतिकवाद प्रकृति के वास्तविक स्वरूप का वह ज्ञान प्रस्तुत करता है जिसे प्राकृतिक घटनाओं के चिन्तन निरीक्षण तथा अन्वेषण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यह उस प्रकार भयावह दर्शन नहीं है जैसा कि सामान्यतः इसे चित्रित किया जाता है। वह 'खाओ, पियो और मौज करो' के सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला दर्शन नहीं है जैसा कि

## 86 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

इसके अनभिज्ञ अथवा विद्वेषपूर्ण विरोधी इसे प्रचारित करते हैं। भौतिकवाद का सीधा सा अर्थ यह है कि सभी अस्तित्वपूर्ण वस्तुओं का मूल स्रोत पुद्गल है और पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। समस्त वस्तु पुद्गल का ही रूपांतरण है और ये रूपांतरण प्रकृति में निहित नियमों

द्वारा अनिवार्यतः नियंत्रित होते हैं।<sup>27</sup> भौतिकवाद के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित है जिन्हें 18वीं शताब्दी के महान फ्रांसीसी दार्शनिकों ने सविस्तार प्रस्तुत किया है— प्रकृति एक महासमष्टि है जिसका मनुष्य एक भाग है और जिसके द्वारा वह प्रभावित होता है। अति प्राकृतिक सत्ताएं सदा कल्पना की ही सृष्टि रही हैं। उस प्रकृति से परे किसी वस्तु की सत्ता नहीं है और न हो सकती है जिसमें सब कुछ समाविष्ट है। मनुष्य एक भौतिक प्राणी है और उसकी नैतिक सत्ता उसके भौतिक स्वभाव का ही एक विशेष पक्ष है। .....संसार में सर्वत्र पुद्गल तथा गति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह संसार कारण कार्य की एक अनंत श्रृंखला है, भिन्न-भिन्न तत्व एक दूसरे के सम्बन्ध में निरंतर प्रतिक्रिया करते रहते हैं और उकने विभिन्न गुण तथा संघात विशिष्ट वस्तुओं के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। किसी

वस्तु का स्वरूप उसके गुणों का संघात मात्र है।<sup>28</sup> भौतिकवाद किसी अतिप्राकृतिक सत्ता को स्वीकार किये बिना विश्व की व्याख्या करता है इस प्रकार की व्याख्या के लिये युगों तक किये गये प्रयासों ने ब्रह्माण्ड में एकतत्त्ववादी सिद्धान्त को स्थापित किया है, और यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु शरीर, मन, आत्मा के मूल में एक ही भौतिक द्रव्य है।.....

सत्ता, विचार से; वस्तुएं प्रत्ययों से; पुद्गल, आत्मा से पहले आता है।<sup>29</sup>

राँय ने भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में भौतिकवादी विचारधारा की दीर्घकालीन प्राचीन परम्परा का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि भौतिकवाद उतना ही प्राचीन सिद्धान्त है जितना स्वयं दर्शन; इसका तात्पर्य यह है कि भौतिकवाद का उद्गम उसी समय से हो गया था जब से

मनुष्य ने जीवन और जगत् कें विषय में विचार करना आरम्भ किया।<sup>30</sup> 'स्वसंवेद उपनिषद' के सूत्र-2 में वर्णित भौतिकवादी तथा निरीश्वरवादी विचारों को उद्घृत करते हुए राय कहते हैं— "उपनिषद केवल बुद्धिवादी, प्रकृतिवादी तथा अज्ञेयवादी विचारधाराओं को ही नहीं, अपितु पूर्ण रूप से निरीश्वरवाद और भौतिकवाद को भी प्रस्तुत करती है। अदृढारह उपनिषदों में से कम से कम एक एकेवल बुद्धिवादी तथा प्रकृतिवादी विचारधारा और पूर्णतः परम्परा विरोधी विचारों की व्याख्या करती है। यह ईश्वर तथा आत्मा का निषेध करती है, इसका विचार है कि पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है और इस जगत् से परे दूसरा कोई संसार या परलोक नहीं है। इसके विचारों को सारांशतः निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है: 'कोई अवतार नहीं होता, न ईश्वर है, न स्वर्ग, न

नरक। सम्पूर्ण परम्परागत धार्मिक साहित्य दंभी मुखों की कृति है। उत्पन्न करने वाली प्रकृति तथा नष्ट करने वाला काल जगत् पर शासन करते हैं और वे मनुष्यों को सुख या दुःख देने से सदगुण अथवा दुर्गण पर ध्यान नहीं देते। लोग लच्छेदार भाषणों से भ्रमित होकर ईश्वर के मंदिरों में पड़े रहते हैं और पुरोहितों के साथ चिपके रहते हैं।' (स्वसंवेद उपनिषद सूत्र-2)..  
..... स्वयं वेदों में भी परम्परा विरोधी प्रकृतिवादी विचारधारा का प्रमाण प्राप्त होता है जिसका विकास वैदिक युग में हो रहा था। ऐसे अनेक वैदिक मंत्र हैं जिनमें परम्परा विरोधियों और नास्तिकों का उल्लेख किया गया।<sup>31</sup>  
इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि रॉय के मतानुसार भारतीय दर्शन में भौतिकवाद का उदय वैदिक युग में ही हो गया था और उपनिषद काल में इसका पर्याप्त विकास हो चुका था।

साथ ही 'मैटीरियलिज्म' में रॉय ने इस तथ्य का भी विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है कि भारतीय दर्शन के समान पाश्चात्य दर्शन में भी भौतिकवाद बहुत प्राचीन काल से विद्यमान है। यूनान में थेलिज, डेमोक्रीटस, ल्यूसिपस, एपिक्यूरस आदि अनेक महान दार्शनिकों ने इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। इसी प्रकार आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भी 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में भौतिकवादी विचारधारा का पर्याप्त विकास हुआ है। रॉय का कथन है कि वर्तमान युग की महान वैज्ञानिक प्रगति वस्तुतः भौतिकवाद का ही परिणाम है और यह प्रगति इसी सिद्धान्त की पुष्टि करती है। भौतिकवादी दर्शन की भाँति विज्ञान भी केवल पुद्गल के अस्तित्व तथा अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों को ही स्वीकार करता है और इसी कारण उसमें भी किसी अलौकिक शक्ति या सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार रॉय यह मानते हैं कि सभी प्रकार की अलौकिकता का निषेध भौतिकवादी दर्शन तथा विज्ञान दोनों का अनिवार्य परिणाम है।

वस्तुतः अपनी उपर्युक्त अनुभवमूलक यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा तथा भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा के आधार पर ही रॉय ने समस्त अतिप्राकृतिक या अलौकिक सत्ताओं का खण्डन किया है। उनका कथन है कि आदि काल से मानव ने देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों, स्वर्ग-नरक, ईश्वर-आत्मा आदि अलौकिक सत्ताओं की जो कल्पना की है उसका मूल कारण अनिवार्य प्राकृतिक नियमों के सम्बन्ध में मनुष्य की अनभिज्ञता ही है। अपने विकास के प्रारम्भिक युग में वह सूर्य-चन्द्र, जल, अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियों के विषय में कुछ भी नहीं जानता था। इन प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर वह इनकी पूजा करने लगा, क्योंकि वह इनसे अपने जीवन के लिए सुरक्षा, स्वास्थ्य, धन-समृद्धि और शांति सब कुछ पाना चाहता था एवं साथ ही नैतिक मूल्यों की स्थापना भी करना चाहता था। अज्ञान से उत्पन्न मनुष्य की इसी स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति से जीवन तथा जगत् के प्रति उस विशेष मानवीय दृष्टिकोण का जन्म हुआ जिसे सामान्य प्रचलित अर्थ में 'धर्म' की

## 88 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

संज्ञा दी जाती है और जो आज भी उसके जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित कर रहा है।<sup>32</sup>

मानव-समाज में देवी-देवताओं अथवा ईश्वर तथा धर्म के उदय के सम्बन्ध में अपने उपर्युक्त मत की व्याख्या करते हुए राय ने लिखा है—“अनभिज्ञता के कारण आदिम मनुष्य ने प्राकृतिक घटनाओं के मूल में अतिप्राकृतिक शक्तियों की कल्पना की है। परन्तु अपने मानसिक विकास की कमी के फलस्वरूप अमूर्त चिन्तन में असमर्थ होने के कारण वह काल्पनिक अतिप्राकृतिक शक्तियों को कम या अधिक मात्रा में अपने जैसे देवता मान लेता है जिनमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक शक्तियाँ हैं।..... इसलिए देवता कम या अधिक मात्रा में मनुष्यों जैसे ही हैं— यहाँ तक की उकनी शारीरिक रचना, भावनाएं तथा संवेग भी मनुष्यों के समान है। प्रत्येक दृष्टि से वे केवल आदर्श मनुष्य हैं जो ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जैसा आदिम

मानव स्वयं बनना चाहता था।<sup>33</sup> प्रकृति की घटनाओं को वह स्वयं अपने समान शरीरवान प्राणियों के कार्य मान लेता है, क्योंकि उसका विचार उसके अपने अस्तित्व तक ही सीमित है। वह इन प्राणियों को इनके कार्यों की महानता के कारण केवल अत्यधिक शक्तिशाली समझता है। किसी शक्ति को उत्कृष्ट मानने के साथपूजा अथवा भय की भावना सम्बद्ध रहती है। जैसे इस धरती पर उत्कृष्ट व्यक्तियों की पूजा की जाती है अथवा उन्हें उपहार देकर प्रसन्न किया जाता है, अदृश्य देवताओं के प्रति भी मानव का दृष्टिकोण वैसा ही था। इस प्रकार मनुष्यों ने स्वयं अपने स्वरूप के अनुसार देवताओं को जन्म दिया।..... ईश्वर अथवा देवताओं के साथ मानव के संबंध का निर्धारण स्वयं मनुष्यों में विद्यमान पारस्परिक संबंधों के आधार पर

ही होता है।<sup>34</sup> प्रकृति के विषय में धर्मपरायण मनुष्य का दृष्टिकोण पूर्णतः उपयोगितावादी रहा है। प्रारम्भ में वह भक्ति के कारण नहीं अपितु भय के कारण काल्पनिक देवताओं की पूजा करता है ताकि उसे वह सब कुछ कल जाय जो कुछ पाना चाहता है।”<sup>35</sup>

वस्तुतः ईश्वरवादी विचारक जिस ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा विश्व का रचयिता मानते हैं उसके संबंध में भी रॉय का यही विचार है कि समस्त काल्पनिक देवी-देवताओं की भाँति वह भी वास्तव में मनुष्य के अज्ञान का ही परिणाम है। जब मानव अपनी अनभिज्ञता के कारण प्राकृतिक नियामों को समझने में असमर्थ था तो उसने जगत की व्याख्या करने के लिए यह कल्पना कर ली कि इन नियमों का निर्माण किसी दैवी या अतिप्राकृतिक शक्ति ने किया है और इसी शक्ति को उसने ‘ईश्वर’ की संज्ञा दी। उसने यह मान लिया कि जिस प्रकार कोई मनुष्य एक विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर किसी वस्तु का निर्माण करता है उसी प्रकार ईश्वर ने भी एक विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना

की है। अपने अनुभव द्वारा मनुष्य यह जानता था कि सिकी उद्देश्यपूर्ण, उपयोगी अथवा सुन्दर वस्तु का निर्माण करने के लिए उसके निर्माता में ज्ञान, शक्ति, क्रियाशीलता आदि गुणों का होना अनिवार्य है, इसी कारण उसने ईश्वर को विशाल ब्रह्माण्ड का रचयिता मानकर उसमें भी असीमित मात्रा में इन सब गुणों को आरोपित किया।

ईश्वर के विचार के उद्गम तथा उसके स्वरूप और गुणों के विषय में अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए राय कहते हैं—“ईश्वर में आरोपित गुण केवल शब्दमात्र है। जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, वे सिकी वास्तविक सत्ता को प्रस्तुत नहीं करते।..... जहाँ भी प्रकृति के यांत्रिक नियमों को नहीं खोजा जा सका था अथवा उनका लागू होना अज्ञात तत्वों के हस्तक्षेप द्वारा स्थगित प्रतीत होता था वहाँ सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी इच्छा तथा उसके उद्देश्य हाथ को विजय पूर्वक खोज लिया गया। अज्ञान ईश्वर का आश्रम—स्थल और धर्म के पक्ष में निर्णायक तर्क बन गया।..... ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ रचयिता प्रतीत नहीं होता जैसा कि धर्म परायण मनुष्यों का विश्वास है।..... कोई भी विचारशील मनुष्य ऐसे ईश्वर को अपने भाग्य का मनमाने ढंग से निर्माण करने वाला नहीं मान सकता। ऐसा करना केवल मुखर्तता है। यदि सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा इस ब्रह्माण्ड की रचना मानव के हित के लिए की गयी होती तो वह उसे इसमें अधिक ऊँचा स्थान देता। जहाँ तक सर्वेश्वरवाद नामक धार्मिक सिद्धान्त का सम्बन्ध है वह भी समान रूप से असंगत है। यह ब्रह्माण्ड असंख्य युगों तक जीवन के किसी चिन्ह के बिना ही विद्यमान रहा है। अतः यह केवल आत्मा का क्रीडा—स्थल कैसे हो सकता है? किसी भी रूप में जीवन की उपस्थिति के बिना चेतना सम्भव नहीं है जिसे अपेक्षाकृत विकास के उच्च स्तर पर ही जीवित प्राणियों में देखा जाता है। चेतना के अभाव में किसी प्रकार के बौद्धिक प्रयोजन का प्रश्न ही नहीं उठता। यह भौतिक जगत अवश्य ही निश्चित नियमों द्वारा शासित होता है, परन्तु पूर्णतः निर्जीव अवस्था में होने के कारण यह जगत बौद्धिक प्रयोजन का साधन नहीं हो सकता। इसके नियम पूर्णतः यांत्रिक हैं जो पुद्गल की सत्ता से अभिन्न गति के रूपान्तरण मात्र है। पुनः पृथ्वी का प्राकृतिक इतिहास इस बात को पूर्णतः प्रामाणित करता है कि बुद्धि सजीव पुद्गल अर्थात् प्राणियों की अपेक्षाकृत नवीन वस्तु है जो कुछ भौतिक एवं रसायनिक प्रक्रियाओं द्वारा शासित निर्जीव पुद्गल की अपेक्षा अधिक रहस्यमयी नहीं है। ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण योजना में न तो सर्वशक्तिमान ईश्वर का हाथ है और न कोई बुद्धि संगत प्रयोजन। ..... धार्मिक एवं तत्वमीमांसीय अवधारणाओं— यथा ईश्वर, आत्मा, प्रथम मूल तत्व, अंतिम कारण ने मनुष्य को जन्म नहीं दिया, अपितु वे स्वयं मनुष्य की कल्पना की सृष्टि हैं।”<sup>36</sup>

## 90 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

अतः मानव समाज में ईश्वर के प्रत्यय के उद्गत तथा उसके स्वरूप एवं गुणों के विषय में रॉय के उपर्युक्त विचारों से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वे अपने भौतिकवादी दर्शन के अनुरूप केवल निरीश्वरवाद को ही पूर्णतः स्वीकार करते हैं तथा यह मानते हैं कि सभी प्रकार की अलौकिकता का निषेध भौतिकवादी दर्शन एवं विज्ञान दोनों का अनिवार्य परिणाम है।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चार्ल्स डार्विन – 'आन दि ओरिजिन ऑफ स्पीशीज' पृ-30, डी एप्पल्टन एण्ड कम्पनी 1859।
2. वही, पृ0-145
3. चार्ल्स डार्विन – 'आन दि ओरिजिन ऑफ स्पीशीज' पृ-97-98, डी एप्पल्टन एण्ड कम्पनी 1871
4. वही, पृ0-48, 127-28
5. वही, पृ0-125-126
6. प्रो० वी० पी० वर्मा – 'भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद' अलाइड पब्लिशर्स लि० 1991, पृ0-426
7. वही, पृ0-427
8. वही, पृ0-427
9. सैम्युअल विलबरफोर्स – 'क्वार्टरली रिव्यू' 1960, पृ0-268
10. वर्क्स का लेख – 'इवोल्यूशन एण्ड अनविलीफ' गार्डन स्टीन द्वारा संपादित – 'दि एन्साइक्लोपीडिया ऑफ अनविलीफ' में संकलित, पृ0-206
11. मार्क्स एण्ड ऐंगल्स – 'आन रिलिजन' – पृ0-15, प्रोग्रेस पब्लिकेशन, मास्को।
12. प्रो० वी० पी० वर्मा – 'भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद' अलाइड पब्लिशर्स लि० 1999, पृ0-436
13. डॉ० वी० पी० वर्मा 'धर्म दर्शन की मूल समस्याएं', पृ0-433, हि० मा का० नि० दिल्ली विश्वविद्यालय 1991।
14. मार्क्स एण्ड ऐंगल्स 'आन रिलिजन' पृ0-41, प्रोग्रेस पब्लिकेशन, मास्को।
15. वही, पृ0-42
16. वही, पृ0-82-84
17. प्रो० वी० पी० वर्मा – 'भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद' अलाइड पब्लिशर्स लि० 1999, पृ0-440
18. वही, पृ0-441
19. विलबरफोर्स – 'ए प्रेक्टिकल व्यू' – 1797, पृ0-405

20. मार्क्स एण्ड एंगल्स - 'आन रिलिजन' - पृ0-42, प्रोग्रेस पब्लिकेशन, मास्को ।
21. कार्ल मार्क्स - 'ए कंट्रिव्यूशन टु दि क्रिटीक आफ पॉलिटिकल इकानामी', अनु0 एन0 आई0 स्टोन, इन्टरनेशनली पब्लिशर्स, न्यूयार्क 1967, पृ0-11
22. फ्राज मेहरिंग - 'कालफ मार्क्स- दि स्टोरी ऑफ हिज लाइफ' अनु ऐडवर्ड फिटजैराल्ड, पृ0-531
23. पैट्रिक मास्टरसन - 'एथीइज्म एण्ड एलीनेशन', पृ0-85
24. रॉजर ए जॉनसन - 'क्रिटिकल इश्यूज इन मॉडर्न रिलिजन', पृ0-143-144
25. एम0 एन0 राय, - 'मैटीरियलिज्म-ऐन आउट लाइन ऑफ दि हिस्ट्री साइंटिफिक थॉट', पृ0-47, रेनॉसॉ पब्लिशर्स लि0-1951
26. एम0 एन0 राय- 'इण्डियाज मैसेज', पृ0-14
27. एम0 एन0 राय- 'मैटीरियलिज्म' रेनॉसाफ पब्लिशर्स लि0, 1951, पृ0-5
28. वही, पृ0-142
29. वही, पृ0-182
30. एम0 एन0 रॉय - 'रीजन, रोमांटिसीज्म एण्ड रिवोल्यूसन खण्ड-1, पृ0-5, रेनॉसॉ पब्लिशर्स लि0, 1952
31. वही, पुस्तक, पृ0-77-78
32. विस्तृत अध्ययन के लिए दिखए - डॉ0 (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ0 सभाजीत मिश्र, 'समकालीन भारतीय दर्शन', उ0 प्र0 हि0 सं0, लखनऊ 1974, अध्याय-11
33. ए0 एन0 राय, 'मैटीरियलिज्म' रेनॉसॉ पब्लिशर्स लि0, 1951, पृ0-1
34. वही, पृ0-28
35. वही, पृ0-241
36. वही, पृ0-134, 193, 195, 197





## अध्याय—4 : अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद

- (क) हाइडेगर  
(ख) ज्यॉ पाल सार्त्र

## अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद

अस्तित्ववादी विचारकों में प्रथम वर्ग उनका है जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। इनके अस्तित्ववाद को 'धार्मिक अस्तित्ववाद' भी कहा जाता है जिसके प्रणेता सोरेन किर्केगार्ड हैं। किर्केगार्ड के अतिरिक्त गैर्बियल मार्सेल, कार्ल यास्पर्स आदि विचारक भी धार्मिक अस्तित्ववाद का समर्थन करते हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे अस्तित्ववादी विचारक सम्मिलित हैं जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इनके अस्तित्ववाद को निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद की संज्ञा दी जाती है। हाइडेगर, ज्यॉ-पाल-सार्त्र, अल्वेयर कामू, मरलो पान्ती आदि विचारक निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद में विश्वास करते हैं। इन विचारकों का मत है कि इस संसार में मनुष्य नितांत अकेला है क्योंकि ऐसी कोई वाह्य शक्ति अथवा सत्ता नहीं है जो उसकी सहायता कर सके और जिस पर वह निर्भर रह सके। इसी कारण मनुष्य को अपनी सहायता स्वयं करनी होगी और अपने प्रयास द्वारा उसे अपने भविष्य का निर्माण भी स्वयं ही करना होगा। वह अपने कर्मों का उत्तरदायित्व किसी अन्य शक्ति या सत्ता पर नहीं डाल सकता। इस निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद पर 19वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक फ्रेड्रिक विल्हेम नीत्शे के ईश्वर-विरोधी दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, जिन्होंने यह घोषणा की थी कि "ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है"। प्रस्तुत अध्याय में हम अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद के प्रतिनिधि विचारक के रूप में हाइडेगर एवं सार्त्र के मत की विवेचना करने का प्रयास करेंगे।

### (क) हाइडेगर

हुस्सल के अनुयायियों में हाइडेगर संभवतः सर्वाधिक प्रभावशाली चिंतक है जिससे फेनामेनालॉजी को एक सर्वथा नवीन दिशा मिलती है। उसे सामान्यतया एक अस्तित्ववादी चिंतक समझा जाता है किन्तु स्वयं हाइडेगर इसे स्वीकार नहीं करते। अपने दार्शनिक चिंतन को वह 'आधारभूत भाववाद' (फंडामेंटल ऑटोलॉजी) कहते हैं जिसे वह एक मात्र फेनामेनालाजिकीय विधि द्वारा संभव मानते हैं। 'फेनामेनॉन' का अर्थ हाइडेगर के अनुसार भाव की 'निज-अभिव्यक्ति' है। जो उसका ग्रीक धात्वर्थ है। अवश्य वह भी हुस्सल की तरह 'भाव' को 'चेतना' से एकाकार कर देते हैं किन्तु उसे चेतना द्वारा संरचित नहीं मानते। इसके विपरीत चेतना को वह 'भाव' का वह उपादान समझते हैं जो उसकी 'निज-अभिव्यक्ति' का माध्यम है।<sup>1</sup> हुस्सल और हाइडेगर में यह मतैक्य है कि फेनामेनॉन ही स्व-प्रदत्तता के रूप वाला है किन्तु जबकि हुस्सल उस तक जगत के स्थगन द्वारा पहुँचता है; हाइडेगर उसे अनिवार्य संदर्भ वाला मानता है। हुस्सल 'भाव' को तात्त्विक रूप वाला मानते हुए उसे 'अस्तित्व-अनस्तित्व' से असंपृक्त कर

देता है जबकि हाइडेगर के लिए 'भाव' सदैव अस्तित्व-सन्दर्भ में ही अर्थ युक्त हो सकता है।<sup>2</sup> उसकी मान्यता है कि दर्शन शास्त्र का प्रमुख विषय आभास नहीं वरन् सत् (वीइंग) है और सत् का सत् के रूप में ही अध्ययन होना चाहिए। यहाँ सत् से हाइडेगर का तात्पर्य उस मौलिक तत्व से है जिसके कारण विशिष्ट वस्तुओं का संसार में अस्तित्व है।

वैसे हाइडेगर का मत बहुत कुछ हुस्सल की ही अविकसित मान्यताओं का विकास कहा जा सकता है। किन्तु हुस्सल से उसका आधारभूत मतभेद तब प्रकट होता है जब वह कहता है कि 'भाव' की अधिकाधिक निजाभिव्यक्ति अंततः उसकी अधिकाधिक रहस्यमयता को प्रकट करती है; कि उसके संबंध में किसी विज्ञान की बात कह सकना, जिसमें आधिकारिक निश्चितता व स्पष्टता हो, एक दुराशा मात्र है। कि भाव तत्त्वतः गुह्य है।<sup>3</sup> वस्तुतः हाइडेगर की इन मान्यताओं में 'अस्तित्व' के संबंध में उसके विचार की केन्द्रीयता परिलक्षित होती है।

हाइडेगर के दर्शन का मूल लक्ष्य सत् का अन्वेषण है क्योंकि वे एक ऐसी प्राथमिक सत्तामीमांसा का निर्माण करना चाहते थे जो सत् के मूलभूत स्वभाव का उद्घाटन करे। अतः इसी आधार पर हम उनके दर्शन की विवेचना तथा उसमें विद्यमान निरीश्वरवादी प्रवृत्ति की जाँ करने का प्रयास करेंगे।

हाइडेगर के दर्शन का केन्द्रीय प्रश्न है 'सत्ता का प्रश्न'। इस प्रश्न के अन्तर्गत वह पूछता है कि, "ऐसा क्यों है कि वस्तुएं हैं, न कि शून्य अथवा वस्तुओं का अभाव"? यह प्रश्न सभी प्रश्नों का प्रश्न है। उनके ही शब्दों में, यह 'व्यापकतम' 'गंभीरताम' तथा 'मूलभूत' प्रश्न है। 'व्यापकतम' इस अर्थ में है क्योंकि हम इस वस्तु अथवा उस वस्तु के संबंध में प्रश्न नहीं कर रहे हैं अपितु जो कुछ भी है उस सब के बारे में, और यहाँ तक की शून्यता के होने के संबंध में भी जानना चाहते हैं। इससे व्यापक जिज्ञासा हो भी नहीं सकती। यह 'गंभीरतम' प्रश्न इसलिए है क्योंकि हमारी जिज्ञासा का विषय है: वह कौन सा आधार है, जिसके नाते वस्तु मात्र का अस्तित्व है? वस्तु क्यों है? ऐसा क्यों नहीं है कि कुछ भी है? 'क्यों' संबंधी यह प्रश्न सामान्य कारणमूलक प्रश्न नहीं है। और यह प्रश्न 'मूलभूत' प्रश्न है क्योंकि प्रश्न समस्त सत्ताओं के होने का है, किसी विशेष प्रकार की सत्ता के नहीं। सरल शब्दों में, प्रश्न 'होना' मात्र का है, इस या उस सत्ता के होने का नहीं।<sup>4</sup>

दार्शनिक जिज्ञासा प्राकृतिक दृष्टिकोण का परित्याग है। प्राकृतिक दृष्टिकोण का परित्याग हुस्सल की फेनामेनालॉजी की पहली शर्त है और हाइडेगर इस बिन्दु पर उससे पूर्णतया सहमत है। प्राकृतिक दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि इसके प्रभाव में हम वस्तुओं, सत्य, मूल्य,

## 96 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

नैतिकता इत्यादि को पूर्वप्रदत्त तथ्य के रूप में स्वीकार करके चलते हैं। ऐसी अवस्था में दर्शन वर्णन मात्र होकर रह जाता है तथा सत्ता एवं मनुष्य के संबंध विषयक में मूलभूत प्रश्नों से दूर रह जाता है। दर्शन का वैशिष्ट्य मूलभूत प्रश्नों को उठाने में है। और इन प्रश्नों को उठाना कोई आसान कार्य नहीं है। नीत्शे से सहमति व्यक्त करता हुआ हाइडेगर कहता है कि दर्शन का अर्थ ही है स्वेच्छा से 'वर्फ' और पहाड़ों के बीच रहने का संकल्प। यह संकल्प सर्वथा ऐच्छिक है, असामयिक है तथा यह पूर्णतया 'स्वतंत्रता के रहस्य' तथा 'छलांग' पर आधारित है। दर्शन एक असाधारण जिज्ञासा है—

असाधारण को जानने की असाधारण जिज्ञासा।<sup>5</sup> दार्शनिक जिज्ञासा 'सत्ता' की जिज्ञासा है। दार्शनिक विवेचना सत्ता के अर्थ का विवेचन है। दर्शन के रूप में फेनामेनालॉजी सत्तामीमांसा है और इसका प्रारम्भ बिन्दु मनुष्य (डासॉय) है। मनुष्य का अस्तित्वपरक विश्लेषण मूलभूत सत्तामीमांसा है और अन्य सत्तामीमांसाएं इसी पर आधारित होती हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि सत्ता की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम रूप मनुष्य है। अन्य विज्ञान जिन सत्ताओं का विश्लेषण करते हैं वे वस्तु होती हैं और उनका लक्षण उनकी तथ्यता (जो है वही होना) है। मनुष्य केवल तथ्यता नहीं है अथवा यह कहा जा सकता है कि एक तथ्यपरक सत्ता के रूप में मनुष्य ऐसी उन तमाम सत्ताओं से भिन्न तथा विशिष्ट है जिनका अध्ययन विज्ञानों द्वारा किया जाता है। मनुष्य का वैशिष्ट्य इस बात में है कि मनुष्य 'सत्ता' के संबंध में प्रश्न उठाने में सक्षम है। लेकिन इतना ही नहीं, वह किसी प्रकार सत्ता के संबंध भी स्थापित किए हुए होता है और इसी नाते वह अपने होने के अर्थ को भी समझता है। इस विशेषता के नाते मनुष्य की सत्ता अन्य सभी वस्तुओं से विशिष्ट है। अन्य सभी वस्तुएं वस्तु होने के नाते मात्र तथ्यात्मक हैं, इन्द्रियानुभविक सत्ताएं हैं, सत्ता की चेतना और जिज्ञासा से रहित हैं; मनुष्य की सत्ता एक वस्तु की सत्ता नहीं है, वह आत्म चेतन सत्ता, चेतन सत्ता है।

वह सत्तामीमांसीय सत्ता है।<sup>6</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्ता की खोज का प्रारम्भ बिन्दु मनुष्य है क्योंकि उसी के माध्यम से, उसके कार्यों, संकल्पों, चुनावों, भाषाओं और मनः स्थितियों के माध्यम से सत्ता की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य सत्ता को अभिव्यक्त करता है। लेकिन सत्ता की अभिव्यक्ति का यही एक मात्र रूप नहीं है। अपने जीवन के अंतिम काल की रचनाओं में हम हाइडेगर को यह कहता हुआ पाते हैं कि सत्ता स्वयं को अभिव्यक्त करती है। बल्कि यो कहता है कि सत्ता हमारा आह्वान करती है— निःशब्द आह्वान। समस्या उस आह्वान के अर्थ को समझना है।

उसकी निःशब्दता स्वयं एक भाषा है, उसका अपना एक व्याकरण है।<sup>7</sup> अब हाइडेगर मनुष्य के जीवन के विविध पक्षों में सत्ता के अर्थ को तलाशनें के

बजाय सत्ता के अपने ही संदेशों में उसके अर्थ को समझने की चेष्टा करने लगता है और अपने इसी प्रयास में हाइडेगर सामान्य भाषा और व्याकरण का परित्याग करके नई भाषा और नये व्याकरण की बात करता है जिसमें सत्ता के संदेश को व्यक्त करने की क्षमता हो।

अतः हाइडेगर की सत्ता की तलाश एक समय में मनुष्य से प्रारम्भ होती है और कालान्तर में 'सत्ता' ही उस तलाश का प्रस्थान बिन्दु हो जाती है। पर इसमें कोई विरोध जैसी बात नहीं है। प्रारम्भ में जब हाइडेगर के ऊपर हुस्सर्ल का प्रभव था, वह भी पद्धकितगत चिंतन के पक्ष में था और वीइंग एण्ड टाइम में मनुष्य की सत्तामीमांसा में वह पद्धति दिखायी देती है।<sup>8</sup> लेकिन कालान्तर में पद्धति के प्रति सारा आग्रह टूटता गया। खोज की पद्धति प्रत्यक्ष और कदाचित् व्यक्तिगत भी होती गयी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हमेशा से ही दार्शनिकों ने सत्ता (तत्व) की तलाश दो बिन्दुओं से प्रारम्भ की है— या तो विषयी (मनुष्य) के विवेचन से और या तो विषय (वस्तु या सत्ता के विवेचन से। उदाहरणार्थ अद्वैत वेदान्त की खोज की विशेषता यह है कि इसमें एक ही साथ दोनों पद्धतियों को अपनाया गया— तत् और त्वम् दोनों का विश्लेषण एक साथ चलता है और निष्कर्षभूत सत्य अद्वैत है। हाइडेगर की चिन्तन पद्धति यहाँ काफी कुछ अद्वैत के निकट पहुँच जाती है। लेकिन महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि हाइडेगर दोनों विवेचनों को बारी-बारी से आजमाता है जबकि अद्वैत दृष्टि प्रारम्भ से और एक साथ और समग्रता में इस सत्य को देख लेती है कि चाहे आत्म जगत से प्रारम्भ करें चाहे अनात्म जगत से सत्य का एक ही अद्वैत रूप दिखायी देगा। हाइडेगर को ऐसी कोई दृष्टि निश्चय ही नहीं प्राप्त थी। लेकिन उसमें सत्य को पाने की उत्कट जिज्ञासा और उसके लिए एक निरंतर संघर्ष है। इसलिए वह कभी उधर से उसका दर्शन करना चाहता है और कभी इधर से। उसने उसे देख लेने का कभी दावा भी नहीं किया। वह तो इसी बात से कृतकृत्य हो जाता है कि उसने प्रश्न को समझ लिया। और पूरी इमानदारी, साहस और संवेदनशीलता के साथ उस मार्ग का चुनाव कर लिया जो कि सत्ता की ओर ले जा सकता है।<sup>9</sup>

हाइडेगर की मान्यता है कि 'सत्ता' को समझने के लिए मनुष्य को समझना होगा क्योंकि मनुष्य ही वह विशिष्ट सत्ता है जिसका 'सत्ता' के साथ अंतरंग सम्बन्ध होता है और जिसकी सत्ता में 'सत्ता' स्वयं एक प्रश्न के रूप में निहित होती है। मनुष्य मात्र विषयी या चेतना नहीं है, जिसका कि जगत् से केवल ज्ञानात्मक सम्बन्ध होता है और न ही मनुष्य अन्य वस्तुओं की भांति एक वस्तु है। मनुष्य अस्तित्व है और अस्तित्व के रूप में जगत् के साथ उसका नितान्त अंतरंग सम्बन्ध है। जगत-में-स्थित-होना उसके स्वरूप की मूलभूत संरचना है। मनुष्य की यह संरचना न केवल उसके स्वरूप पर प्रकाश डालती है बल्कि सत्ता के स्वरूप

## 98 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

का भी संकेत करती है। डासॉय, जिसके लिए मनुष्य या 'मानव अस्तित्व' शब्द का प्रयोग किया जाता है, का अर्थ है— 'वहाँ होना'। ये दोनों ही शब्द बहुत महत्वपूर्ण ध्वनि रखते हैं। 'वहाँ' यानि उस स्थिति में, उस बिन्दु पर, उस योग्यता में, 'होना' जहाँ कि कुछ उद्घाटित हो सके। 'वहाँ होना' इस अर्थ का सूचक है— मनुष्य वहाँ होता है जहाँ कि सत्ता अपने को जगत के रूप में व्यक्त करती है। वहाँ देश का सूचक नहीं है, यह मनुष्य की तात्विक स्थिति का सूचक है। मनुष्य का 'होना' एक विशिष्ट घटना है। यह 'होने' का इन्द्रियानुभविक स्तर न होकर उसका सत्तामीमांसीय स्तर है जो कि 'होने' मात्र को प्रकाशित करता है। इसलिए जब हाइडेगर मनुष्य को 'जगत—में—स्थित—सत्ता' के रूप में प्रस्तुत करता है तो यह भांति कदापि नहीं होनी चाहिए कि वह मनुष्य को जगत में उसी रूप में स्थापित कर रहा है जिस रूप में कि वस्तुएं जगत में विद्यमान होती हैं। मनुष्य का जगत में होना उसकी इन्द्रियानुभविक स्थिति का सूचक नहीं है, यह उसकी सत्तामूलक संरचना (आंटोलाजिकल स्ट्रक्चर) है, उसका अनुभवातीत स्वरूप है। इसलिए हाइडेगर कहता है कि 'अस्तित्व' या 'होने' की सार्थकता केवल मनुष्य के संदर्भ में होती है। मनुष्य का होना उसकी संभावनाओं में निहित होता है। एक वस्तु की भांति उसको किसी गुण या जाति के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता। मनुष्य की सत्ता का अर्थ है मेरी सत्ता। मैं मनुष्य हूँ, मैं कोई वस्तु नहीं हूँ। संसार में तमाम आश्चर्यजनक वस्तुएं हैं लेकिन मैं—मनुष्य—उन सबमें सबसे अधिक आश्चर्यपूर्ण हूँ।<sup>10</sup>

जगत—में—स्थित होना मनुष्य की प्रागनुभविक अनिवार्य अवस्था है और मनुष्य की यह स्थिति साधारण वस्तुओं जैसी स्थिति नहीं है। मनुष्य अन्य तथ्यात्मक सत्ताओं से इस नाते मूलतः भिन्न है क्योंकि वह सत्ता—चेतन सत्ता है।<sup>11</sup> अन्य सत्ताओं की सत्ता केवल तथ्यात्मक अर्थात् इन्द्रियानुभविक होती है। मानवीय सत्ता अस्तित्वपरक होती है। हाइडेगर अस्तित्वसूचक और अस्तित्वपरक में भेद करते हैं। अस्तित्वसूचक विशेषताएं यद्यपि मनुष्य के संदर्भ में ही प्रयुक्त होती हैं, लेकिन वे मनुष्य की अनिवार्य (प्रागनुभविक) विशेषताएं नहीं होती। उदाहरणार्थ स्वास्थ्य खराब होने से उत्पन्न चिंता मनुष्य का अस्तित्वसूचक यानि इन्द्रियानुभविक गुण है लेकिन अस्तित्वपरक लक्षण नहीं। 'जगत—में—स्थित—सत्ता' मनुष्य का अस्तित्वपरक लक्षण है।<sup>12</sup>

उपर्युक्त भेदों से ऐसा प्रतीत होता है कि हाइडेगर ने मनुष्य के दो रूपों में कुछ उसी प्रकार भेद किया जैसा कि प्रायः प्रत्ययवाद्यां द्वारा किया जाता है। हुस्सर्ल ने आत्मा या चेतना के दो रूपों में यह कहकर भेद किया है कि एक चेतना जगत में निमग्न है। यानी प्राकृतिक चेतना है और दूसरी चेतना वह है जो कि इपाकी द्वारा अपने को प्राकृतिक जगत से अलग

हटाकर द्रष्टा मात्र होती है। यह सत्य है कि हाइडेगर का (डासॉय) मनुष्य इन्द्रियानुभविक मनुष्य (आत्मा, चेतना) नहीं है। डासॉय (वहाँ होना) मनुष्य का अनुभवातीत स्वरूप है, लेकिन यह डासॉय विषय जगत से असंबद्ध अनुभवातीत द्रष्टा नहीं है। जगत से पृथक कोई आत्मा नहीं होती और न ही आत्मा से असंबद्ध कोई जगत होता है।

इस प्रकार जगत-में-स्थित-होना मनुष्य का मूलभूत स्वरूप है। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि मनुष्य का जगत से सम्बन्ध होता है अथवा यह बात भी नहीं कि क्योंकि जगत में वस्तुएं होती हैं इसलिए उनके नाते और उनके माध्यम से मनुष्य का जगत से सम्बन्ध होता है। जगत में होना मनुष्य का स्वरूप है, प्रागनुभविक संरचना है, उसमें न होने के लिए वह स्वतंत्र नहीं है। उसके होने का अर्थ ही है जगत में होना और जगत के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित करना।<sup>13</sup>

जगत-में-स्थित-होना मनुष्य की सत्तापरक-अस्तित्वपरक संरचना है, जिसका ज्ञान फेनामेनालॉजी के द्वारा होता है सामान्यतया मनुष्य के जगत में होने की अवस्था को विषयी और विषय के सम्बन्ध के रूप में लिया जाता है और पुनः उस सम्बन्ध को ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से ही समझने का प्रयास किया जाता है जो जगत को विषय और मनुष्य को विषयी मानकर उनके सम्बन्ध को ज्ञानात्मक ढंग से देखता और समझता है। लेकिन यदि विषय (जगत) विषयी (मनुष्य) से बाहर है तो यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान या चेतना, जो मनुष्य के भीतर है और उसका गुण है, विषय तक कैसे पहुँचती है? यह सदा से एक ज्ञानमीमांसीय प्रश्न रहा है। हुस्सर्ल ने इसे विषयापेक्षी चेतना की अवधारणा से सुलझाने का प्रयास किया किन्तु हाइडेगर के अनुसार वह भी संदेहवाद, अहमेववाद (सालिप्सिज्म) से बच न सका। हाइडेगर इस समस्या का अंत मनुष्य के जगत-में-स्थित-होने की अवधारणा द्वारा समाप्त करने का दावा करते हैं। मनुष्य ज्ञानात्मक दृष्टि से जगत के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, वह जगत में पहले से ही है

और ज्ञान मनुष्य की इसी मौलिक सत्ता का एक प्रकार है।<sup>14</sup> वस्तुओं को देखना और जानना इस स्थिति की पूर्वस्वीकृति है कि मनुष्य जगत में स्थित है। प्रत्यक्ष या जानने का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य अपने विषयी-रूप की सीमा से बाहर निकलकर अपने से बाहर स्थित-वस्तु-की ओर बढ़ता है और उसे ग्रहण करता है। मनुष्य मूलतः ऐसी सत्ता है जो कि उन्ही बाहरी वस्तुओं के मध्य रहता है। देखने या जानने का यह भी अर्थ नहीं है कि बाहरी वस्तुओं से 'कुछ' लेकर चेतना पुनः अपनी अन्तर्वर्तिता, अपनी भीतरी सत्ता में, वापस आ जाती है। वस्तुओं को देखने, समझने और धारण करने की दशा में चेतना बाहर वस्तुओं के मध्य ही होती है। इस प्रकार विषयी और विषय के सम्बन्ध का जन्म ज्ञान के माध्यम से नहीं होता। ज्ञान मनुष्य की सत्ता का एक प्रकार है-वह सत्ता जो कि जगत-में-स्थित सत्ता है।

## 100 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

इस प्रकार हाइडेगर मनुष्य की फेनामेनालॉजकीय अवधारणा को स्पष्ट करता है। हेगेल जैसे प्रत्ययवादियों के विरुद्ध वह मनुष्य के अस्तित्वपरक स्वरूप का प्रतिपादन करता है। अनुभववादियों के विरुद्ध वह मनुष्य से स्वतंत्र जगत् की वास्तविकता को अस्वीकार करता है। अनुभववादियों और प्रत्ययवादियों दोनों के विरुद्ध मनुष्य और जगत् को अन्तरंग सम्बन्धों में स्थापित करता है। मनुष्य का जगत्-में-होना उसका सत्तापरक स्वरूप है, इन्द्रियानुभविक नहीं। इस प्रकार वह जगत् के अर्थ में क्रांतिकारी परिवर्तन लाता है एवं मनुष्य की जगत्-में-स्थित-सत्ता की अवधारणा न केवल मनुष्य और सत्ता को समझने की कुंजी है बल्कि ज्ञानमीमांसीय रहस्यों का भी समाधान कर देती है।

पुनः हाइडेगर मनुष्य के ज्ञाता स्वरूप और मनुष्य तथा जगत् के मध्य किसी भी अन्तर को सर्वथा अस्वीकार करते हुए कहता है कि जगत्-में-स्थित-सत्ता के रूप में मनुष्य न केवल अपने को जगत् के साथ अन्तरंग संबंध में स्थापित पाता है; अपितु अपने को अपने समान अन्य मनुष्यों के सह अस्तित्व में पाता है। यहाँ पर हाइडेगर 'अन्य के अस्तित्व' की समस्या का अस्तित्वपरक समाधान प्रस्तुत करता है। अन्य का अस्तित्व ज्ञानमीमांसीय समस्या नहीं है और हम अन्य की सत्ता को अनुमान जैसी ज्ञानात्मक क्रिया से नहीं जानते। अन्य भी हमारी तरह एक सत्ता हे-जगत्-में-स्थित-सत्ता, जिसका कि मैं स्वयं जगत्-में-स्थित-सत्ता के रूप में साक्षात्कार करता हूँ। मेरा होना, जगत् का होना और अन्य का होना ये एकता सूचक घटनाएँ हैं। मैं अपने को जगत् के मध्य और अन्यों के सम्बन्ध में स्थित सत्ता के रूप में ही पाता हूँ।<sup>15</sup> इस प्रकार हाइडेगर के अनुसार

मनुष्य मूलतः सह-मनुष्य है।<sup>16</sup> मैं जिस जगत् में स्थित हूँ उसमें मेरे समान अन्य भी साझीदार हैं। उनके साथ सह मनुष्य होने के नाते मैं उन्हें जानता हूँ। यह जानना सैद्धान्तिक, तार्किक और आकारपरक परिचय नहीं होता, यह जानना स्वतः अस्तित्वपरक सत्ता है जिसके नाते ही अन्य प्रकार के ज्ञान संभव होते हैं।<sup>17</sup>

हाइडेगर कहते हैं कि सार्वजनिक जीवन बड़ा आकर्षक होता है और मनुष्य को बार-बार अपनी ओर आकृष्ट करता रहता है। इसका कारण यह है कि इस सार्वजनिक जीवन में मनुष्य को यह आश्वासन मिलता है कि वह अपनी समस्त संभावनाओं को सरलता के साथ प्राप्त कर सकता है। वह एक सम्पूर्ण तथा यथार्थ एवं निष्कपट जीवन जी सकता है। उसे यह विश्वास हो जाता है कि सब कुछ सुनिश्चित एवं आसान है क्योंकि सब कुछ करने के दरवाजे पहले से खुले हैं और उन दरवाजों तक जाने का रास्ता भी बनाया है। हाइडेगर इसी को अप्रामाणिक जीवन या अनाप्त जीवन (इन आर्थेटिकलाइफ) की संज्ञा देता है। यह जीवन मनुष्य के लिए



आश्वासनकारी तथा शांतिदायक होता है। लेकिन जगत में इस भाँति पतित होकर भी मनुष्य पूरी तौर पर चैन नहीं पाता। पतितपन का आश्वासन और शांति उसे निरंतर उद्वेलित करते रहते हैं और मनुष्य को अपने से अलग करते रहते हैं। यह अलगाव मनुष्य की अपनी ही संभावनाओं से अलग करके उसे अप्रामाणिक और कृत्रिम जीवन की ओर ढकेल देता है। इस अप्रामाणिक जीवन की विशेषता यह है कि इसमें मनुष्य अपनी ही सत्ता से निकलकर अपनी ही सत्ता में छलांग लगाता है। 'मौलिक जीवन से हटकर अप्रामाणिक और कृत्रिम जीवन को स्वीकार कर लेता है। दैनिक जीवन, औसत जीवन, सार्वजनिक जीवन को स्वीकार करके मनुष्य आधारहीनता और अप्रामाणिकता की शून्यता में अपने को निमग्न कर देता है;<sup>18</sup>

यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि मनुष्य के इस पतन का कारण कोई बाहरी चीज है। मनुष्य के होने में ही पतित होने की संभावना भी होती है। तथ्यात्मक जगत—में—होना, अन्यों के साथ होना, सह—मनुष्य होना, मनुष्य के होने की अनिवार्य विशेषताएं हैं। इन्हीं के मध्य मनुष्य अपनी सत्ता को, अपने जीवन के होने और उसके अर्थ को सर्दव एक प्रश्न के रूप में पाता है। पतितपन मनुष्य की तथ्यात्मकता का सूचक है और वह इतना मोहक है कि मनुष्य उकस वरण करके अप्रामाणिकता में अपने को खो बैठता है।<sup>19</sup>

लेकिन मनुष्य का यह पतन उसके अस्तित्व का अंतिम सत्य नहीं है। जगत में मनुष्य का पतन मनुष्य का अप्रामाणिक जीवन है। उस पतन को पहचानना प्रामाणिक जीवन का लक्षण है। मनुष्य स्वयं ही इस पतन का कारण है लेकिन वह इस सत्य को स्वीकार नहीं करना चाहता। वह तो इस सत्य का भी सामना नहीं करना चाहता कि उसने अपने को जगत में एक वस्तु की भाँति निमग्न करके अपनी सारी संभावनाओं को कतिपय परिचित, सार्वजनिक, संभावनाओं में सीमित कर दिया है। उसमें सत्ता की अनन्त संभावनाएं निहित हैं और अन्ततः वह मृत्युन्मुख सत्ता है— ये सत्य उसे अप्रिय और भयकारी लगते हैं और इनसे बचने के लिए ही पतन की अप्रामाणिकता में अपने को डाल देना चाहता है।

प्रामाणिक जीवन की पहचान है कि मनुष्य अपनी बात सुनता है या अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनता है। अन्तरात्मा की आवाज उसे जगत् में इस निमग्नता के प्रति सचेत करती है और उसे वापस आने की अपील करती है। यह अपील डासॉय की, आत्मा की अपने से ही अपील है। लेकिन इन अपील की कोई सार्वजनिक भाषा नहीं होती। सच तो यह है कि इसकी कोई भी भाषा नहीं होती। यह अन्तरात्मा की निःशब्द पुकार है; कहीं दूर से आती हुयी और दूर तक जाती हुई पुकार—जिसे वही सुनता है जो उसे सुनना चाहता है, जो जगत् में निमग्नता से बाहर निकलना चाहता

## 102 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

है।<sup>20</sup> यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मनुष्य के पतन और उससे उत्पन्न अप्रामाणिकता का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि इस अवस्था में मनुष्य का अस्तित्व वस्तुवत् हो जाता है अथवा यह कि उसका प्रामाणिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। इसके विपरीत मनुष्य के पतन में उसके जगत् में होने की समस्या एक प्रश्न के रूप में उभर कर उपस्थित होती है। इसी प्रकार प्रामाणिक जीवन मनुष्य के दैनिक जीवन से ऊपर कोई अन्य जीवन नहीं होता। प्रामाणिक जीवन की वह विद्या है जिसमें की मनुष्य को अपने पतन का; औसतपन का; अप्रामाणिकता का बोध होता है।<sup>21</sup>

चिन्ता का विश्लेषण करते हुए हाइडेगर कहता है कि चिन्ता वह घटना है जो मनुष्य की जगत्-में-स्थित-सत्ता की सम्पूर्ण संरचना का उद्घाटन करती है। जगत् में पतन मनुष्य की आकुलता या चिन्ता का कारण है और जगत्-में-स्थित-होने की उसकी अपनी संभावना इस चिन्ता का विषय है। अन्य शब्दों में प्रामाणिक, ईमानदारी, जीवन जीने की क्षमता उसकी चिन्ता का विषय है। जब वह अपने को सार्वजनिकता में निमग्न पाता है— यही जगत् में पतन है— तो यह बात उसे अत्यंत संत्रास में डाल देती है। यह संत्रास उसे सर्वत्र दिखायी देता है परवह 'कहीं' नहीं होता। मनुष्य की यह अवस्था हाइडेगर के अनुसार, मनुष्य के अस्तित्व की संपूर्ण संरचना को व्यक्त करती है; चिन्ता के रूप में मनुष्य की सत्ता की मौलिक सत्तापरक विशेषतायें हैं— अस्तित्वपरता; तथ्यपरता एवं पतनशीलता।<sup>22</sup>

अस्तित्वपरता का अर्थ मनुष्य की वह क्षमता और प्रवृत्ति है जिसमें कि वह अपना 'स्व' होना चाहता है; प्रामाणिक जीवन जीना चाहता है। मनुष्य एक ऐसा सत्ता है जिसके होने में उसका होना निरन्तर एक प्रश्न बना रहता है।<sup>23</sup> इसका सरल अर्थ यह है कि मनुष्य किसी भी क्षण में जो होता है उससे हमेशा आगे देखता है; उससे आगे जाता रहता है। यह मनुष्य की अतिक्रमणशीलता है। वह वस्तु का जीवन नहीं जीता। जगत् में स्थापित होते हुए भी वह उससे परे देखता है। लेकिन यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परे देखने और परे जाने का अर्थ यह नहीं है कि ज्ञाता या विषयी के रूप में मनुष्य जगत् से अलग हो जाता है। वह वस्तुतः जगत् में होकर ही जगत् के बाहर अतिक्रमणशील है। मनुष्य अपने को जगत् में फंका हुआ पाता है और उस फेंकेपन का अतिक्रमण करना चाहता है। वह यह भी देखता है कि फेंका गया होना उसका पतन है और वह उस पतन से अपने को उबारना चाहता है। इस प्रकार मनुष्य की अतिक्रमणता की संभावना उसके फेंके गये होने और उसके पतन— इन दोनों स्थितियों का संकेत करती है। मनुष्य के होने का समग्र अर्थ है— ऐसी सत्ता जो पहले से ही जगत् में है (फेंकी गयी), जो अन्य वस्तुओं के सथ है (पतित) और जो इनसे

परे जाने के लिए प्रयत्नशील है।<sup>24</sup> इसी को हाइडेगर 'चिंता' का नाम देता है। चिन्ता मनुष्य का अस्तित्वपरक होना (अतिक्रमणशील होना) उसकी तथ्यात्मकता और पतन का सूचक एवं इन तीनों स्थितियों की एकता का नाम है। स्पष्टतः यह चिन्ता साधारण चिंता नहीं है बल्कि यह मनुष्य की

सत्ता का सत्तापरक आधार है, उसका प्रागनुभविक स्वरूप है।<sup>25</sup>

चिंता के रूप में मनुष्य हमेशा अपने से परे जाने के लिए प्रयत्नशील होता है। इसका तात्पर्य है कि उसकी संभावनाएं कभी भी निःशेष नहीं हो जाती। कुछ होना हमेशा बाकी रहता है। मनुष्य सदा अपनी वर्तमान अवस्था से आगे देखता है, उसका अतिक्रमण करना चाहता है। मनुष्य के 'वहाँ' होने का यही अर्थ है। वह 'वहाँ' है यानी अभी जहाँ है उससे आगे है। लेकिन मृत्यु मनुष्य के इस 'वहाँ' रूप का अंत कर देती है। उसकी अतिक्रमणशीलता वहीं ठहर जाती है। मृत्यु का अर्थ है— मनुष्य को जितना होना था हो चुका है। मृत्यु मनुष्य की समग्रता है। अब वह एक जगह स्थापित है। वह वह 'वहाँ' नहीं है, अब वह यहाँ है। अतएव मृत्यु जीवन का अंत है। लेकिन यह उस तरह का अंत नहीं है जैसा कि वस्तुओं या घटनाओं का होता है। वर्षा का अन्त होता है, नदी में डूब जाने पर नाव का अंत हो जाता है; पुस्तक के लिख लेने के पश्चात् लेखन कार्य का अंत हो जाता है। अंत की ये घटनाएं जब होती हैं, तभी होती हैं। मृत्यु का अंत इस प्रकार का नहीं है क्योंकि मनुष्य तो प्रारम्भ से ही मृत्युन्मुख होता है। सत्ता होते हुए वह मृत्यु की ओर गमनशील है। मृत्यु का उसकी सत्ता से अन्तरंग संबंध होता है। मृत्यु उसके समक्ष है और उसे देखना और उसकी संभावना को जीना उसकी सत्ता में निहित है।<sup>26</sup>

मनुष्य की मौलिक संरचना के रूप में जिस चिंता का हमने निर्देश किया है मृत्यु उसी चिंता का प्रकार है। 'अस्तित्वपरता', 'तथ्यता' तथा 'पतन' चिंता के तीन पक्ष हैं; मृत्यु भी मनुष्य के इन्हीं पक्षों का उद्घाटन करती है। मृत्यु मनुष्य के समक्ष खड़ी एक आसन्न घटना है। इस घटना में उसके साथ और कोई साझीदार नहीं है। मृत्यु में मनुष्य अकेला अपनी मृत्यु के समक्ष होता है। या यो कहें कि मृत्यु उसके समक्ष होती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु उसके नितांत निजी अस्तित्व की सम्भावना है। इस संभावना में मनुष्य का 'होना मात्र' दाँव पर लगा होता है। मनुष्य जगत—में—स्थित—सत्ता है, मृत्यु उसी सत्ता का अंत है। इस नाते मृत्यु मनुष्य की वह सम्भावना है जिसमें उसका होना ही न होने में परिवर्तित होता दिखायी देता है। इसे टाला नहीं जा सकता। जब मनुष्य अपनी इस संभावना का साक्षात्कार करता है तो उसके सामने 'और कोई' या 'और कुछ' नहीं होता। वह नितांत अकेलेपन में अपनी नितांत निजी संभावना को

## 104 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

भोगता है। इसलिए हाइडेगर इसे मनुष्य की ऐसी संभावना कहता है जो कि 'निरपेक्ष असंभावना' है।<sup>27</sup>

इसीलिए तो मृत्यु की संभावना मनुष्य को अकुलाने वाली, उत्कंठा उत्पन्न करने वाली होती है। यह अकुलाहट भय नहीं है। यह मनुष्य की वह मनः स्थिति है जो मनुष्य के इस सत्य का उद्घाटन करती है। कि वह ऐसी सत्ता है जिसे कि प्रारम्भ से ही मृत्यु की ओर उछाल दिया गया है। मृत्यु की अकुलाहट मनुष्य की अपनी निजी संभावना से उत्पन्न है— वह संभावना जिसका वह अतिक्रमण नहीं कर सकता। अतएव यह संभावना मनुष्य की तथ्यता की सूचक भी है।

मृत्यु के विवेचन में हाइडेगर तथा सार्त्र के विश्लेषण काफी समानता रखते हैं लेकिन एक अन्तर यह है कि मृत्यु में निहित त्रास, हाइडेगर के अनुसार, इस नाते उत्पन्न होता है कि मृत्यु मनुष्य की जगत—में—स्थित—सत्ता का अपहरण करती हुई प्रतीत होता है वहीं सार्त्र इसलिए मृत्यु को त्रासद मानते हैं क्योंकि वह हमारी स्वतंत्रता और विषयिता को हमसे छीन लेती है। परन्तु दोनों ही इस मुख्य बिन्दु पर सहमत हैं कि मृत्यु मनुष्य की अतिक्रमणशीलता के आगे एक विराम है। हाइडेगर की मान्यता है कि मनुष्य भविष्य की ओर, मृत्यु की ओर, संभावनाओं की ओर गमनशील सत्ता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह पहलें 'जो कुछ' था, उसे छोड़ता जाता है। मनुष्य केवल अन्तोमुखी या मृत्युन्मुखी सत्ता नहीं है; वह प्रारम्भोन्मुखी सत्ता भी है। अन्य शब्दों में उसका जीवन जन्मतथा मृत्यु के बीच में फँसा हुआ है। इसी को हाइडेगर मनुष्य की ऐतिहासिकता कहता है।<sup>28</sup>

इस प्रकार मनुष्य के व्यक्ति व समाज पर जिस ठोस दृष्टिकोण से हाइडेगर विचार करता है उस आधार पर उसका दर्शन अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद एवं मानवतावाद के रूप में उभरता है। यद्यपि उसके दर्शन के इस पक्ष की अधिक सफल अभिव्यक्ति सार्त्र के दार्शनिक चिंतन में होती है, जो हाइडेगर से काफी प्रभावित है। हाइडेगर के मत को व्यक्त करते हुए हम कह सकते हैं कि मनुष्य जगत में मात्र एक प्राणी नहीं है, वह तत्त्वतः जगत का हिस्सेदार भी है। एक अर्थ में वह जगत का अभिनियंता है—वही समस्त 'अर्थ' का धारक, अन्वेषक व उद्घाटक है। उसके लिए यही जीवन, यही जगत (हुस्सर्ले की तरह कोई तत्व जगत नहीं) सत्य है। इसका केन्द्र 'ईश्वर' नहीं 'मनुष्य' ही है।<sup>29</sup> जैसा कि पहले नीत्शे ने कहा था। अतः वह केवल 'ज्ञाता' ही नहीं वरन् 'उत्तरदायी कर्ता' भी है। उसका उत्तरदायित्व स्वयं अपने लिए और मानव समाज के लिए ही नहीं है, वरन् वह समस्त जगत भाव मात्र के समक्ष उत्तरदायी है।<sup>30</sup> स्वतः उसके

भाव (अस्तित्व) की महत्ता उस महत्ता का बोझ और उसकी पीड़ा का रहस्य उसका यह तात्विक स्व-भाव ही है।

## (ख) ज्यों-पाल सार्त्र

अस्तित्ववादी विचारधारा की मूल मान्यता यह है कि व्यक्ति के रूप में प्रत्येक मनुष्य की अपनी अद्वितीय प्रतिष्ठा है और निरपेक्ष रूप से स्वतंत्र तथा अपने समस्त कर्मों के लिए पूर्णतः उत्तरदायी है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने जीवन को अर्थ एवं महत्व देता है और आज वह जो कुछ है उसका एक मात्र उत्तरदायित्व केवल उसी पर है। मनुष्य की निरपेक्ष स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि उसके कर्म किसी प्रकार की वाह्य शक्ति अथवा मनोवैज्ञानिक बाध्यता द्वारा निर्धारित नहीं होते। उसमें जो आत्मचेतना या अपने आपको जानने की क्षमता है वही उसे अन्य सभी प्राणियों से पृथक् करती है और उसे पूर्णतः बनाती है। मनुष्य जो कुछ है अथवा बनता है वह स्वतंत्रता पूर्वक किये गये उसके अपने कर्मों का अनिवार्य परिणाम है जिसके लिए अन्य कोई उत्तरदायी नहीं है। वास्तव में यही अस्तित्ववाद का मूल सिद्धान्त है जिसे हम सार्त्र के निरीश्वरवादी दर्शन की विवेचना करते हुये प्रस्तुत करेंगे।

अस्तित्ववाद की व्याख्या में सार्त्र यह स्पष्ट करते हैं कि यह 'मानवतावादी दर्शन' है। अस्तित्ववाद के विषय में उनका कथन है कि यह सिद्धान्त मनुष्य के 'सार' से पूर्व उसके 'अस्तित्व' को स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव का अस्तित्व उसके सारतत्त्व से अनिवार्यतः पहले आता है। इसका तात्पर्य यह है कि मानव के जिस अनिवार्य लक्षण के कारण हम उसे मनुष्य की संज्ञा देते हैं उस लक्षणों से पूर्व हमें मनुष्य के अस्तित्व को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ यदि मनुष्य की विवेकशीलता को उसका ऐसा अनिवार्य लक्षण मान लिया जाय तो उसे 'मनुष्य' बनाता है तो इस विवेकशीलता को मनुष्य का सार या मूल तत्व कहा जाएगा, किन्तु सार्त्र के विचार में हमें मनुष्य की इस विवेकशीलता को स्वीकार करने से पूर्व इस अनिवार्य तथ्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्य का अपना अस्तित्व है जो उसकी विवेकशीलता से पूर्व है। इसी अर्थ में सार्त्र तथा अन्य अस्तित्ववादी यह कहते हैं कि 'मनुष्य का अस्तित्व उसके सारतत्त्व से पहले आता है' और उनका यह विचार अस्तित्ववाद का आधारभूत सिद्धान्त है।

अस्तित्ववाद के उपर्युक्त मूल सिद्धान्त को सार्त्र ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। किसी वस्तु को काटना चाकू का वह मूल तत्व या अनिवार्य लक्षण है जिसके कारण हम उसे 'चाकू' कहते हैं और जो उसके अस्तित्व का मूल उद्देश्य है। परन्तु चाकू का यह मूल तत्व उसके अस्तित्व से पहले है क्योंकि जिस व्यक्ति ने इस चाकू का निर्माण

## 106 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

किया है वह इसे बनाने से पहले ही जानता था कि वह इसका निर्माण क्यों कर रहा है। चाकू को बनाने से पहले इस व्यक्ति के मन में उसके अस्तित्व और उद्देश्य की मूल अवधारणा स्पष्टतः विद्यमान थी जिससे प्रेरित होकर उसने इसका निर्माण किया था। इसी कारण सार्त्र कहते हैं कि चाकू का मूल तत्व उसके अस्तित्व से पहले आता है। यही बात मनुष्य को छोड़कर विश्व की अन्य सभी वस्तुओं के संबंध में भी कही जा सकती है दूसरे शब्दों में, सार्त्र के अनुसार मनुष्य के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं का मूल तत्व उनके अस्तित्व से पूर्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। मनुष्य ही एक मात्र ऐसा प्राणी है जो इस नियम का अपवाद है और जिसके अस्तित्व को उसके मूल तत्व से पूर्व स्वीकार करना आवश्यक है।

अस्तित्ववादी सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए सार्त्र ने लिखा है— “उनमें जो बात समान है वह केवल यही तथ्य है कि वे यह विश्वास करते हैं कि ‘अस्तित्व’ ‘मूलतत्व’ से पहले आता है।..... जब हम रचयिता के रूप में ईश्वर के विषय में विचार करते हैं तो अधिकांशतः हम उसे अतिप्राकृतिक या अलौकिक निर्माता समझते हैं। इस प्रकार ईश्वर के मन में विद्यमान मनुष्य की अवधारणा की तुलना कागज काटने वाले चाकू की अवधारणा के साथ की जा सकती है जो उस चाकू के निर्माता के मन में है। ईश्वर की रचना एक विशेष विधि तथा अवधारणा के अनुसार ठीक उसी प्रकार करता है जिस प्रकार एक कारीगर कागज काटने वाला चाकू बनाता है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की बुद्धि में विद्यमान मनुष्य की एक विशेष अवधारणा का प्रतिफल या परिणाम है।..... निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद जिसका मैं प्रतिनिधि हूँ, सुसंगत रूप से यह घोषित करता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो कम-से-कम एक प्राणी ऐसा है जिसका अस्तित्व उसके मूल तत्व से पहले आता है— अर्थात् किसी अवधारणा के अनुसार उसकी परिभाषा करने से पूर्व ही वह विद्यमान है। वह प्राणी मनुष्य है अथवा जैसा कि हाइडेगर ने कहा है, वह मानवीय वास्तविकता है। इस कथन से हमारा क्या तात्पर्य है कि अस्तित्व मूल तत्व से पहले आता है? हमारा तात्पर्य यह है कि सबसे पहले मनुष्य का अस्तित्व है; वह स्वयं अपना सामना करता है, संसार में उपस्थित होता है और फिर इसके पश्चात् स्वयं अपनी परिभाषा करता है। जैसा कि अस्तित्ववादी मनुष्य को समझता है, यदि उसकी परिभाषा नहीं की जा सकती तो इसका कारण यह है कि प्रारम्भ में वह कुछ भी नहीं है। वह काफी समय बाद तक कुछ भी नहीं होगा और तब वह उस रूप में होगा जिस रूप में वह अपने आप को बनायेगा। इस प्रकार मानव स्वभाव नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है जिसके मन में मानव स्वभाव की अवधारणा हो। केवल मनुष्य है।..... मनुष्य इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो वह अपने आपको बनाता है। यह अस्तित्ववाद का प्रथम सिद्धान्त है।....

..... इस कथन से हमारा इसके अतिरिक्त और क्या तात्पर्य हो सकता

है कि एक पत्थर या एक मेज की अपेक्षा मनुष्य का कहीं अधिक महत्व है? हम यही कहना चाहते हैं कि सर्पप्रथम मनुष्य का अस्तित्व है— वह किसी भी अन्य वस्तु से पहले आता है।<sup>31</sup>

अस्तित्ववाद द्वारा मानव के अस्तित्व को विशेष महत्व देने के एक अनिवार्य परिणाम का उल्लेख करते हुए सार्त्र कहते हैं— कि “यह सिद्धान्त मनुष्य को पूर्णतः स्वतंत्र और अपने समस्त कर्मों तथा भविष्य निर्माण के लिए उत्तरदायी मानता है। मनुष्य जो कर्म करता है और उनके जो भी परिणाम होते हैं उनका सबाका उत्तरदायित्व स्वयं उसी पर है, किसी अन्य वाद्य शक्ति या सत्ता पर नहीं। परन्तु मनुष्य केवल अपने व्यक्तित्व तथा भविष्य के लिए ही उत्तरदायी नहीं है; वह सभी मनुष्यों के लिए भी उत्तरदायी है। जब वह किन्हीं कर्मों और वस्तुओं का चुनाव करता है तो वह केवल अपने लिए ही नहीं, अपितु दूसरों के लिए भी ऐसा करता है।<sup>32</sup> अपने साथ-साथ अन्य सभी व्यक्तियों के प्रति भी मनुष्य के उत्तरदायित्व के विषय में सार्त्र ने अपनी उपर्युक्त मान्यता को इस प्रकार स्पष्ट किया है—“जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने लिए उत्तरदायी है तो इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि वह केवल अपने ही व्यक्तित्व के लिए उत्तरदायी है, अपितु यह है कि वह सभी मनुष्यों के लिए उत्तरदायी है।.....  
..... जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य स्वयं चुनाव करता है तो इससे हमारा तात्पर्य केवल यही नहीं होता कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही अवश्य चुनाव करना पड़ता है, अपितु इससे हमारा तात्पर्य यह भी होता है कि अपने लिए चुनाव करते समय वह सभी मनुष्यों के लिए चुनाव करता है।..... इस या उस वस्तु में से किसी का चुनाव करना उस वस्तु के मूल्य को स्वीकार करना है जिसका चुनाव किया जाता है क्योंकि हम किसी बुरी वस्तु का चुनाव नहीं कर सकते। हम जिस वस्तु का चुनाव करते हैं वह सदा श्रेष्ठ होती है, और जब तक वह सबके लिए श्रेष्ठ न हो तब तक हमारे लिए श्रेष्ठ नहीं हो सकती।..... इस प्रकार हमारा उत्तरदायित्व उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है जो हमने माना था क्योंकि इसका संबंध संपूर्ण मानव जाति से है।..... परिणामतः मेरा कर्म संपूर्ण मानव जाति की ओर से एक प्रतिबद्धता है।..... इस प्रकार मैं स्वयं अपने लिए तथा सभी मनुष्यों के लिए उत्तरदायी हूँ और मैं एक ऐसे मनुष्य की विशेष छवि उत्पन्न करता हूँ जैसा मेरे विचार में वह होना चाहिए था।<sup>33</sup>

सार्त्र के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि वे मनुष्य को केवल अपने लिए ही नहीं अपितु अन्य सभी मनुष्यों के लिए भी उत्तरदायी मानते हैं। परन्तु उनकी इस मान्यता को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है। यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कर्मों का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कुछ अन्य व्यक्तियों के जीवन पर भी पड़ता है अथवा पड़ सकता है

## 108 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना संभवतः उचित नहीं होगा कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिये ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मानव जाति के लिए भी उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त सार्त्र के इस मत को भी स्वीकार करना बहुत कठिन है कि जो कुछ एक व्यक्ति के लिए श्रेष्ठ है वह अन्य सभी मनुष्यों के लिए श्रेष्ठ है या हो सकता है। वस्तुतः किसी विशेष व्यक्ति के लिए किसी वस्तु का श्रेष्ठ होना उसके अपने स्वभाव तथा उसकी अपनी परिस्थितियों पर निर्भर है जो सभी मनुष्यों के लिए समान नहीं हो सकती। इतना ही नहीं सार्त्र इस महत्वपूर्ण तथ्य की भी उपेक्षा करते हैं कि व्यक्ति अपने सभी कर्मों के लिए सदैव अनिवार्यतः पूर्ण रूप से उत्तरदायी नहीं होता। कई बार वह उन परिस्थितियों से विवश होकर भी कर्म करता है जो उसके नियंत्रण से बाहर होती है और जिनमें वह प्रबल इच्छा शक्ति होते हुए भी परिवर्तन नहीं कर सकता।<sup>34</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने इस सिद्धान्त के आधार पर सार्त्र ने मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्रता तथा उसके व्यापक उत्तरदायित्व के संबंध में जो सामान्य निष्कर्ष निकाला है उसकी सत्यता संदिग्ध प्रतीत होती है।

जैसा कि पूर्व में हम देख चुके हैं कि सार्त्र निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद में विश्वास करते हैं और अपने को इसका प्रतिनिधि भी मानते हैं। अतः यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि अस्तित्ववाद के साथ-साथ निरीश्वरवाद को स्वीकार करना क्यों आवश्यक समझते हैं। अपनी पुस्तक 'एग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म' में उन्होंने इसका स्पष्ट उत्तर दिया है। उनका कथन है कि मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्रता से संबंधित अस्तित्ववाद की आधारभूत मान्यता के साथ ईश्वरवाद की संगति स्थापित करना असंभव है क्योंकि ईश्वरवाद इस मान्यता का पूर्ण रूप से निषेध करता है। यदि रचयिता के रूप में सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय तो मनुष्य उसकी रचना होने के कारण स्वतंत्र नहीं रह जाता। तब प्रत्येक व्यक्ति अपने रचयिता, ईश्वर के मन में पहले से विद्यमान मनुष्य की एक विशेष अवधारणा का प्रतिरूप मात्र बन जाता है, जो केवल ईश्वर की इच्छा अनुसार ही कर्म करता है। मनुष्य ऐसा कोई कर्म कर ही नहीं सकता जो उसके रचयिता सर्वशक्तिमान ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध हो, क्योंकि ईश्वर ही उसके स्वभाव तथा उसके अस्तित्व के उद्देश्य को निर्धारित करता है। इसी कारण सार्त्र यह कहते हैं कि ईश्वरवाद को स्वीकार कर लेने के परिणामस्वरूप मनुष्य तथा अन्य वस्तुओं के अस्तित्व में कोई आधारभूत अंतर नहीं रह जाता। यदि ईश्वरवाद सत्य है तो अन्य वस्तुओं की भांति मनुष्य के संबंध में भी हमें यही मानना पड़ेगा कि उसका मूल तत्त्व या अनिवार्य लक्षण उसके अस्तित्व से पहले आता है जो अस्तित्ववाद के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध है। सर्वशक्तिमान ईश्वर की रचना मात्र होने के कारण मनुष्य न तो कोई कर्म करने के लिए स्वतंत्र रह जाता है और न ही उसे किसी कर्म के



लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। इस प्रकार सार्त्र के विचार में ईश्वरवाद मानव के संकल्प स्वातंत्र्य और उससे उत्पन्न उत्तरदायित्व दोनों को पूर्णतः समाप्त कर देता है जिन्हें अस्तित्ववाद में विशेष महत्व दिया गया है। अतः

हमारे लिये निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद को स्वीकार करना अनिवार्य है।<sup>35</sup>

सार्त्र का कहना है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो मनुष्य की स्वतंत्रता और उसका उत्तरदायित्व दोनों अखण्डित रूप में बने रहते हैं। ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करने का स्पष्टतः अर्थ यह है कि मनुष्य का ऐसा कोई रचयिता नहीं है जो उसकी स्वतंत्रता में बाधक सिद्ध हो सके और उसके स्वभाव तथा अस्तित्व के उद्देश्य को पहले से ही निश्चित कर सके। यदि ईश्वर है तो मनुष्य की स्वतंत्रता भ्रम है। किन्तु वास्तव में उसकी स्वतंत्रता एक अनुभव-सिद्ध तथ्य है, अतः ईश्वर विषयक

विश्वास भ्रामक है।<sup>36</sup> उसके विचार में निरीश्वरवाद का दूसरा परिणाम यह है कि वह मनुष्य को आत्म निर्भर तथा अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी बनने

की प्रेरणा देता है और वस्तुतः यही अस्तित्ववाद का मूल संदेश है।<sup>37</sup> यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो इसका अर्थ यह है कि मनुष्य इस संसार में नितान्त अकेला है और ऐसी कोई शक्ति नहीं है जिस पर वह आश्रित रह सके। वह एक ऐसा प्राणी है जिसे इस संसार में बिल्कुल अकेला छोड़ दिया गया है और जिसे किसी का कोई सहारा उपलब्ध नहीं है। इसी अर्थ में सार्त्र तथा निरीश्वरवाद का समर्थन करने वाले अन्य अस्तित्ववादी मनुष्य को

‘परित्यक्त प्राणी’ कहते हैं।<sup>38</sup> मनुष्य की परित्यक्तता (अवन्डनमेंट) की इस अवधारणा का अस्तित्ववाद के लिए बहुत महत्व है जिसमें वे सभी अस्तित्ववादी विश्वास करते हैं जो निरीश्वरवाद के समर्थक हैं।

अस्तित्ववाद की दृष्टि से ‘परित्यक्तता’ अथवा ‘अवन्डनमेंट’ शब्द के अर्थ और उसके लिए इस अवधारणा के विशेष महत्व की व्याख्या करते हुए सार्त्र कहते हैं कि— “जब हम ‘परित्यक्तता’ की बात करते हैं तो हमारे कहने का तात्पर्य यह होता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है और उसके अनुपस्थिति के परिणामों को अंतिम स्थिति तक स्वीकार करना आवश्यक है।..... इसके परिणामस्वरूप मनुष्य अकेला है, क्योंकि वह अपने भीतर या बाहर ऐसी किसी वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता जिस पर वह निर्भर रह सके। वह तुरंत यह मालूम कर लेता है कि उसके पास कोई बहाना नहीं है। वस्तुतः यदि अस्तित्व मूल तत्त्व से पहले आता है तो कोई भी व्यक्ति अपने कर्म की व्याख्या विशेष मानव स्वभाव के आधार पर कभी भी नहीं कर सकेगा। दूसरे शब्दों में नियतत्ववाद नाम की कोई वस्तु नहीं है मनुष्य स्वतंत्र है।..... इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो हमें ऐसे कोई मूल्य अथवा आदेश भी उपलब्ध नहीं है जो हमारे व्यवहार को न्यायोचित सिद्ध कर सके। ..... हमें अकेला छोड़ दिया

## 110 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

गया है और हमारे पास कोई बहाना भी नहीं है। इसी अर्थ में मैं यह कहता हूँ कि स्वतंत्र होना मनुष्य की बाध्यता अथवा नियति है। यही मनुष्य की नियति है, क्योंकि उसने अपने आप को उत्पन्न नहीं किया, किन्तु फिर भी वह स्वतंत्र है और जिस क्षण से उसे इस संसार में फेंका गया है उसी क्षण से वह अपने प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी है।..... मनुष्य अब चाहे जैसा भी प्रतीत हो; उसके समक्ष एक भविष्य है जिसका उसे निर्माण करना

है— एक अनिर्मित भविष्य जो उसकी प्रतीक्षा कर रहा है।”<sup>39</sup> इस प्रकार सार्त्र के मतानुसार निरीश्वरवाद का समर्थन करके अस्तित्ववादी दार्शनिक मनुष्य को स्वावलम्बी बनाने तथा अपने समस्त कर्मों का उत्तरदायित्व स्वीकार करने की प्रेरणा प्रदान करता है।

उपर्युक्त परिणामों के अतिरिक्त सार्त्र अस्तित्ववाद के लिए निरीश्वरवाद के एक अन्य परिणाम का भी उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि— ईश्वर के अस्तित्व का न होना मनुष्य की एक विशेष कठिनाई में डाल देता है जो इस प्रकार है। यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो मनुष्य के लिए शाश्वत मूल्यों की संभावना समाप्त हो जाती है। इसका कारण यह है कि ईश्वर के लुप्त होने के साथ—साथ उस पर निर्भर समस्त शाश्वत मूल्य भी लुप्त हो जाते हैं। तब कोई अनुभव निरपेक्ष उच्चतम शुभ नहीं रह जाता, क्योंकि उसका चिन्तन करने वाली कोई असीम शक्ति नहीं है। यह कहीं नहीं लिखा है कि उच्चतम शुभ का अस्तित्व है और प्रत्येक व्यक्ति को ईमानदार होना चाहिए अथवा झूठ नहीं बोलना चाहिए। यह स्थिति इसलिए उत्पन्न होती है कि ईश्वर रहित संसार में मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है। इस संबंध में सार्त्र डोस्टोवस्की के इस कथन को उद्धृत करते हैं कि— “यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो सब कुछ किया जा सकता है।” स्वयं इस कथन का अनुमोदन करते हुए सार्त्र इसे अस्तित्ववाद का प्रारम्भिक योपान मानते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो वास्तव में सब कुछ उचित है— अर्थात् प्रत्येक

व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकता है।<sup>40</sup> इस प्रकार सार्त्र के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार निरीश्वरवाद के फलस्वरूप नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का ह्रास होता है अथवा हो सकता है।

उपर्युक्त कठिनाई के अतिरिक्त सार्त्र के निरीश्वरवाद से संबंधित एक अन्य समस्या यह है कि उनका निरीश्वरवाद किन्हीं विशेष तर्कों या प्रमाणों पर आधारित न होकर केवल उनके अपने अस्तित्ववादी दर्शन का परिणाम अथवा साधन मात्र है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि तर्कों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना उनका मुख्य उद्देश्य नहीं है। इसके विपरीत ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करके वे केवल यही सिद्ध करना चाहते हैं कि मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र और अपने समस्त कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। वह अपने इस उत्तरदायित्व से यह कहकर मुक्त नहीं हो

सकता कि ईश्वर का अस्तित्व है जो उसकी स्वतंत्रता को सीमित करता है और इसलिए ईश्वर पर ही उसके कर्मों का उत्तरदायित्व है। वस्तुतः इसी कारण सार्त्र ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करते हैं जिसमें मनुष्य अपनी स्वतंत्रता को अस्वीकार करने और अपने अनिवार्य उत्तरदायित्व से बचने के लिए ऐसा मिथ्या तर्क न दे सके। इतना ही नहीं; वे यह भी कहते हैं कि यदि ईश्वर का अस्तित्व होता तो भी मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्रता और उसके उत्तरदायित्व के संबंध में दृष्टिकोण में कोई अन्तर न पड़ता। क्योंकि मूल समस्या ईश्वर के अस्तित्व या अनस्तित्व की नहीं है, अपितु मनुष्य के स्वतंत्र तथा उत्तरदायी होने अथवा न होने की है।

निरीश्वरवाद के विषय में अपने उपर्युक्त अस्तित्ववादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए सार्त्र ने लिखा है कि— "अस्तित्ववाद सुसंगत निरीश्वरवादी विचारधारा से पूर्ण निष्कर्ष निकालने के प्रयास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसका उद्देश्य मनुष्यों को निराशा में डुबा देने का जरा भी नहीं है।..... अस्तित्ववाद इस अर्थ में निरीश्वरवादी नहीं है कि वह अपनी संपूर्ण शक्ति ईश्वर के अनस्तित्व को प्रमाणित करने में ही नष्ट कर देगा। इसके विपरीत, वह यह घोषित करता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो भी इससे उसके दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम यह विश्वास करते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व अवश्य है, किन्तु हमारा विचार है कि वास्तविक समस्या उसके अस्तित्व की नहीं है। जिस बात की मनुष्य को आवश्यकता है वह यह है कि उसे अपने आपको पुनः प्राप्त करना है और यह समझना है कि उसे अपने आप से कोई भी नहीं बचा सकता— ईश्वर के अस्तित्व का समुचित प्रमाण भी नहीं।"<sup>41</sup> इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सार्त्र निरीश्वरवाद को न तो किन्हीं विशेष तर्कों द्वारा प्रमाणित करना चाहते हैं और न ही उसे अपने आप में कोई महत्वपूर्ण सिद्धान्त मानते हैं। वे तो उसे मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्रता तथा उसके अनिवार्य उत्तरदायित्व से संबंधित अपने अस्तित्ववादी दर्शन के मूल सिद्धान्त का समाधान मात्र समझते हैं जिसके फलस्वरूप उनका निरीश्वरवाद वास्तव में दुर्बल हो जाता है।

पुनः जैसा कि हम देख चुके हैं, सार्त्र कहते हैं कि— पूर्णतः स्वतंत्र होने के कारण मनुष्य स्वयं ही अपने आपको बनाता है और अन्य कोई भी शक्ति या सत्ता इसमें उसकी कोई सहायता नहीं कर सकती। किसी न किसी रूप में चुनाव करना उसके लिए अनिवार्य है और इसी कारण वह स्वयं ही अपने उद्देश्यों तथा अपनी प्रतिबद्धताओं को निर्धारित करता है। अतः यदि वह अपने कर्मों के लिए मनोवेगों को उत्तरदायी मानता है अथवा अपने इस उत्तरदायित्व से बचने के लिए किन्हीं नियतत्ववादी सिद्धान्तों का अविष्कार करता है तो वह वास्तव में स्वयं अपने आपको केवल धोखा देता है। इतना ही नहीं; सार्त्र के विचार में मनुष्य अपने समस्त मूल्यों

## 112 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

तथा आदर्शों का निर्माण भी स्वयं ही करता है; कोई अन्य शक्ति उसे ये मूल्य एवं आदर्श प्रदान नहीं करती। वह यह नहीं कह सकता कि जिन मूल्यों और आदर्शों को स्वीकार करता है वे उस पर किसी वाह्य शक्ति द्वारा थोपे गये हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सार्त्र मनुष्य की इस निरपेक्ष स्वतंत्रता को किसी अन्य महान आदर्श का साधन न मानकर स्वतः साध्य मानते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि हम सब केवल स्वतंत्रता के लिए ही स्वतंत्रता की इच्छा करते हैं; किसी अन्य वस्तु के लिए नहीं। मानवीय स्वतंत्रता अपने आप में मूल्यवान है और अन्य समस्त मूल्य अन्ततः इसी स्वतंत्रता पर आधारित है।<sup>42</sup> सार्त्र का मत है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा सामाजिक स्वतंत्रता में कोई संघर्ष नहीं है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता पर निर्भर है।<sup>43</sup> इसी कारण सार्त्र कहते हैं कि मैं अपनी स्वतंत्रता को तब तक अपना लक्ष्य नहीं बना सकता जब तक कि मैं दूसरों की स्वतंत्रता को भी अपना लक्ष्य नहीं बना लेता।<sup>44</sup> स्पष्टतः सभी व्यक्तियों की स्वतंत्रता का समान महत्व है इस प्रकार सार्त्र मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्रता और उससे उत्पन्न उत्तरदायित्व को स्वतः साध्य मूल्य के रूप में अनिवार्य तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

परन्तु सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन की उपर्युक्त मान्यता का तर्कसंगत रूप से पूर्णतः समर्थन करना बहुत कठिन प्रतीत होता है। इस मान्यता का समुचित मूल्यांकन करने के लिए हम मनुष्य की स्वतंत्रता पर वैयक्तिक दृष्टि से और सामाजिक दृष्टि से विचार कर सकते हैं। यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने के लिए कुछ सीमा तक स्वतंत्र है और उसी सीमा तक वह अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी भी है। व्यक्ति की यही स्वतंत्रता नैतिकता का मूल आधार है। यह भी सत्य है कि अन्ततः मनुष्य ही अपने समस्त मूल्यों तथा आदर्शों का निर्माण करता है, ईश्वर या कोई अन्य शक्ति नहीं। परन्तु इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र है और वह जब भी जो कुछ चाहे बिना किसी बाधा के कर सकता है। व्यक्ति के रूप में मनुष्य जिन प्राकृतिक, सामाजिक तथा अर्थिक परिस्थितियों में अपना जीवन व्यतीत करता है, वे निश्चित रूप से उसकी स्वतंत्रता को सीमित करती है और इन सब परिस्थितियों को नियंत्रित एवं परिवर्तित करना उसके लिए सर्वद्वय संभव नहीं होता। व्यक्ति के जीवन में भाग्य अथवा आकस्मिक संयोग का भी अपना ही महत्व है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कभी-कभी व्यक्ति सम्पूर्ण निष्ठापूर्वक अधिकतम प्रयास करने पर भी उन सब परिस्थितियों को परिवर्तित नहीं कर पाता जो उसके जीवन और भाग्य को नियंत्रित करती है।

इसके अतिरिक्त एक अधिकार सम्पन्न समुदाय के रूप में कुछ विशेष व्यक्ति जो महत्वपूर्ण निर्णय करते हैं उनका ऐसे असंख्य व्यक्तियों पर अच्छा या बुरा दीर्घकालीन प्रभाव पड़ता है अथवा पड़ सकता है जिसका इन निर्णयों में कोई योगदान नहीं होता। माता-पिता, विभिन्न नेताओं, प्रशासकों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा किये गये उचित या अनुचित निर्णय इस बात के स्पष्ट प्रमाण है। इन निर्णयों द्वारा प्रभावित व्यक्ति अपने जीवन में जो सुख-दुःख भोगते हैं उसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी नहीं होते; क्योंकि वे इस निर्णयों को नियंत्रित या परिवर्तित करने में असमर्थ थे।

इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के रूप में तथा समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य की स्वतंत्रता सीमित है, अतः उसे पूर्णतः स्वतंत्र और अपने समस्त कर्मों के लिए उत्तरदायी मानना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। परन्तु सार्त्र उपर्युक्त समस्त महत्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा करते हुये सभी दृष्टियों से मनुष्य की निरपेक्ष और उससे उत्पन्न सम्पूर्ण उत्तरदायित्व को अपने अस्तित्ववादी दर्शन का मूल सिद्धान्त मानते हैं जिसका तर्कसंगत रूप से समर्थन करना कठिन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन का मुख्य लक्षण सम्पूर्ण मानवीय स्थिति को मानवीय संदर्भ में प्रस्तुत करना है। मानवीय समस्याओं का कोई अनुभवातीत समाधान नहीं। सार्त्र का मानववाद निरीश्वरवादी मानववाद है। ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करते हुए सार्त्र कहते हैं कि ईश्वर का प्रत्यय आत्मघाती है। सृष्टिकर्ता ईश्वर की धारणा असंगत है तथा उसमें मानव-स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान नहीं है। मनुष्य की स्वतंत्रता सार्त्र के दर्शन का मूल आधार है। उनके शब्दों में 'मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है।'<sup>45</sup> सार्त्र उन सभी दार्शनिक प्रयासों से असहमत हैं जो ईश्वर तथा मनुष्य की स्वतंत्रता के बीच सामंजस्य स्थापित करते हैं। इस संबंध में वह लाइबनिट्ज के दर्शन का उल्लेख करते हुए कहता है कि लाइबनिट्ज के अनुसार मनुष्य का सार तत्व ईश्वर द्वारा निर्धारित है। 'पूर्वस्थापित सामंजस्य' का सिद्धान्त मनुष्य की स्वतंत्रता को स्थापित करने का असफल प्रयास है क्योंकि यदि मनुष्य के जीवन की सामान्य रूप रेखा पूर्वनिर्धारित है तो उस निर्धारण के भीतर स्वतंत्र आचरण का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अतएव सार्त्र मनुष्य की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन कर देता है।<sup>46</sup>

सार्त्र के अनुसार व्यक्ति का धार्मिक जीवन और व्यवहार मनुष्य की दूरास्था का सूचक है। अपने एकाकीपन से भयभीत तथा उत्तरदायित्व के भार को सहन करने में अक्षम व्यक्ति ईश्वर का सहारा लेता है। ईश्वर की स्वीकृति मानव अस्तित्व की वास्तविकता से पलायन करने की एक विधि है। दूरास्था का शिकार मनुष्य मानवीय संबंधों में ईश्वर के

## 114 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

हस्तक्षेप को स्वीकार करता है, जिससे कि वह अपने द्वारा किये गये कार्यों के उत्तरदायित्व से बच सके।<sup>47</sup>

अपने ग्रंथ 'एग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म' में तर्कबुद्धिवाद एवं अनुभवातीतवाद का खण्डन करके सार्त्र यह स्थापित करता है कि मनुष्य की सत्ता नितान्त एकाकी है। उसका स्वरूप किसी दिव्य स्रोत द्वारा प्रदत्त नहीं है अपितु वह स्वयं अपने स्वरूप का चुनाव एवं निर्धारण करता है। चुनाव एवं निर्धारण की इस प्रक्रिया में मनुष्य का कोई सहायक या मार्गदर्शक नहीं है। वह जो कुछ करता है या जो कुछ है उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। व्यक्ति पूर्णतया स्वतंत्र है। वही मूल्यों का सृष्टा तथा मानदण्डों का निर्धारक है। ऐसा कोई भी प्रागनुभविक अथवा निरपेक्ष

सिद्धान्त नहीं है जो मनुष्य के लिए चुनाव कर दे या निर्णय ले ले।<sup>48</sup> लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या हर व्यक्ति के निर्णय, मूल्य एवं मानदण्ड अलग-अलग होते हैं? क्या मूल्यों की कोई सामान्य दुनियाँ नहीं है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए सार्त्र कहता है कि सामान्य सूत्र पर आधारित न होते हुए भी व्यक्ति द्वारा लिए गये निर्णयों एवं किये गये चुनावों में एक सार्वभौमिकता होती है। इसका कारण यह है कि स्वतंत्रताजन्य उत्तरदायित्व के बोझ से दबे होने के कारण व्यक्ति सदैव इस बात के प्रति सचेत होता है कि वह दूसरों की दृष्टि का विषय है; इसकी क्रियाओं के ऊपर समस्त मानवता की निगाहें टिकी हुई हैं। परिणामस्वरूप उसके द्वारा किये गये निर्णय तथा स्वीकार किये गये मूल्य एवं मानदण्ड नितान्त उसके लिए नहीं होते, उसके द्वारा किये गये चुनाव सारी मानवता के लिए किया गया चुनाव है। मनुष्य अपने कार्यों के द्वारा सम्पूर्ण मानवता की प्रतिमा का निर्माण करता है। सार्त्र के अनुसार इस कथन का कि "मनुष्य मनुष्य का भविष्य है", यही अभिप्राय है।<sup>49</sup>

यहाँ पर सार्त्र का स्वर उसके तर्कबुद्धि एवं प्रागनुभविकतावाद के सारे विरोधों के बावजूद कुछ काण्टीय सा प्रतीत होता है। अन्तर यह है कि काण्ट के नैतिकता के सूत्र बुद्धि के प्रागनुभविक आदेश हैं जबकि सार्त्र के मानवतावाद में निहित सार्वभौमिकता मानव जीवन में विद्यमान सहज उत्तरदायित्व बोध से उत्पन्न है। मनुष्य अपने चुनावों द्वारा इस सार्वभौमिकता को उत्पन्न करता है। इस सार्वभौम मानववाद से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष परिलक्षित होता है कि मनुष्य के कार्यों का कोई पूर्व स्थित वस्तुगत सन्दर्भ नहीं है; लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके कार्य नितान्त व्यक्तिगत है तथा उसकी दुनिया सर्वथा निजी दुनिया है। इसके विपरीत अपनी स्वतंत्र रचनात्मकता के द्वारा मनुष्य अन्तर्विषयता के जगत में प्रवेश करता है। वह दूसरों के अस्तित्व एवं उसकी स्वतंत्रता के महत्व को पहचानता है तथा यह महसूस करता है कि वे उसके भी अस्तित्व

एवं स्वतंत्रता की शर्तें हैं। वह यह भी समझता है कि दूसरों के अस्तित्व के ही संदर्भ में वह एक सार्थक प्रतिबद्धता का जीवन व्यतीत कर सकता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए सार्त्र कहता है कि अस्तित्ववाद निराशा, कर्महीनता एवं व्यक्तिवादिता का दर्शन न होकर आशा, कर्मठता तथा सार्वभौम मानववादी दर्शन है। पुनः मानववाद के एक गम्भीर अर्थ की ओर इंगित करते हुए सार्त्र कहते हैं कि— मानवीय जगत के अतिरिक्त अन्य कोई जगत नहीं है। यह मनुष्य की व्यष्टिता का जगत है। मनुष्य निरन्तर अपना अतिक्रमण एवं निषेध करते हुए अपनी सत्ता एवं स्वरूप का निर्माण करता है। अतिक्रामी मूल्यों की तलाश में ही वह अपनी सत्ता का अर्थ ढूँढता है, वही उस अतिक्रामिता का केन्द्र भी है।

वस्तुतः सार्त्र तथा अन्य अस्तित्ववादी विचारकों का उपर्युक्त सिद्धान्त उन नियतत्ववादी दार्शनिकों के सिद्धान्त के विरुद्ध अतिवादी प्रतिक्रिया है जो मनुष्य को पूर्णतः परतंत्र और परिस्थितियों का दास मात्र मानते हैं। ये दार्शनिक प्रत्येक व्यक्ति के अपने अद्वितीय व्यक्तित्व का निषेध करते हुए यह कहते हैं कि मनुष्य जो कुछ बनाता है वह केवल उसकी परिस्थितियों का अनिवार्य परिणाम है। परन्तु नियतत्ववादी दार्शनिकों का यह सिद्धान्त भी उतना ही एकांगी तथा अयुक्तिसंगत है जितना मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्रता से संबंधित अस्तित्ववादी विचारकों का सिद्धान्त। ऐसी स्थिति में इन दोनों अतिवादी सिद्धान्तों के स्थान पर एक मध्यमार्गीय संतुलित सिद्धान्त द्वारा मनुष्य की सीमित स्वतंत्रता को स्वीकार करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है; क्योंकि ऐसा संतुलित सिद्धान्त ही मानव-जीवन के सभी अनिवार्य प्रासंगिक तथ्यों के अनुरूप मानवीय स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व की समुचित व्याख्या कर सकता है। किन्तु कुछ कठिनाईयों, समस्याओं अथवा दुर्बलताओं के होते हुए भी अस्तित्ववादी विचारधारा सने 20वीं शताब्दी में निरीश्वरवाद के विकास में अपना अनुपम मौलिक एवं महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय— 'फिनामिर्नालाजी' पृ0-89, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर।
2. वही, पृ0-89
3. वही, पृ0-90
4. डॉ0 (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ0 सभाजीत मिश्र—'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', म0 प्र0 हि0 ग्रं0 अ0, भोपाल, पृ0-143
5. हाइडेगर 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टू मेटाफिजिक्स' अनु0 राल्फ मेनहर्न, डी0 एण्ड कं0 न्यूयार्क 1961, पृ0-10-11
6. हाइडेगर, 'वीइंग एण्ड टाइम' अनु0 जॉन मेक्वायरी एण्ड एडवर्ड राबिन्सन, मारपर एण्ड रॉ, न्यूयार्क 1962, पृ0-32

## 116 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

7. सक्सेना एवं मिश्र 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', म० हि० ग्र० अ०, भोपाल, पृ०-152
8. हाइडेगर, 'वीइंग एण्ड टाइम' अनु० जॉन मेक्वायरी एण्ड एडवर्ड राबिन्सन, मारपर एण्ड रॉ, न्यूयार्क 1962, पृ०-33
9. डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ० सभाजीत मिश्र-'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', म० प्र० हि० ग्रं० अ०, भोपाल, पृ०-152-153
10. वही, पृ०-155
11. हाइडेगर, 'वीइंग एण्ड टाइम' अनु० जॉन मेक्वायरी एण्ड एडवर्ड राबिन्सन, मारपर एण्ड रॉ, न्यूयार्क 1962, पृ०-12
12. डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ० सभाजीत मिश्र-'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', म० प्र० हि० ग्रं० अ०, भोपाल, पृ०-155
13. हाइडेगर, 'वीइंग एण्ड टाइम' अनु० जॉन मेक्वायरी एण्ड एडवर्ड राबिन्सन, मारपर एण्ड रॉ, न्यूयार्क 1962, पृ०-12
14. वही, पृ०-88
15. डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ० सभाजीत मिश्र-'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ०-119
16. वही, पृ०-165
17. वही, पृ०-165
18. वही, पृ०-168-69
19. वही, पृ०-169
20. हाइडेगर, 'वीइंग एण्ड टाइम' अनु० जॉन मेक्वायरी एण्ड एडवर्ड राबिन्सन, मारपर एण्ड रॉ, न्यूयार्क 1962, पृ०-316
21. वही, पृ०-224
22. वही, पृ०-235
23. वही, पृ०-236
24. वही, पृ०-237
25. डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ० सभाजीत मिश्र-'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ०-173
26. वही, पृ०-175
27. वही, पृ०-176
28. वही, पृ०-180
29. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय 'फिनामिनालॉजी' रा० हि० ग्रं० अ०, जयपुर, पृ०-94
30. वही, पृ०-94
31. सार्त्र- "अस्तित्ववाद और मानववाद", अनु० जवरीमल्ल पारख, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली 1997, पृ०-33-35
32. वही, पृ०-36
33. वही, पृ०-36-37



34. प्रो० वेद प्रकाश वर्मा 'भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद' अलाइड पब्लिशर्स लि० 1999, पृ०-606
35. सार्त्र- "अस्तित्ववाद और मानववाद", अनु० जवरीमल्ल पारख, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली 1997, पृ०-37-39
36. डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ० सभाजीत मिश्र- 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन' उ० प्र० हि० सं०, लखनऊ, पृ०-390-91
37. वही, पृ०-392
38. वही, पृ०-392
39. सार्त्र- "अस्तित्ववाद और मानववाद", अनु० जवरीमल्ल पारख, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली 1997, पृ०-39-40
40. वही, पृ०-39-40
41. वही, पृ०-58-59
42. वही, पृ०-54-55
43. वही, पृ०-55
44. वही, पृ०-55
45. वही, पृ०-40
46. डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ० सभाजीत मिश्र- 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन' उ० प्र० हि० सं०, लखनऊ, पृ०-393
47. वही, पृ०-394
48. वही, पृ०-396
49. वही, पृ०-397



## अध्याय—5 : भारतीय दर्शन में अनीश्वरवाद

- वेद
- उपनिषद
- चार्वाक दर्शन
- जैन दर्शन
- बौद्ध दर्शन
- सांख्य दर्शन
- मीमांसा दर्शन

## भारतीय दर्शन में अनीश्वरवाद

पिछले चार अध्यायों में हमने ईश्वर की अवधारणा एवं अस्तित्व के लिये प्रमाण, ईश्वरवाद के निहितार्थ, विज्ञानसम्मत अनीश्वरवाद एवं अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य प्रमुख भारतीय दर्शनों में उपलब्ध अनीश्वरवाद के स्वरूप एवं महत्व की विवेचना करना है। जिनमें चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य तथा पूर्वमीमांसा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

सामान्यतः समस्त भारतीय दर्शनों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—आस्तिक दर्शन तथा नास्तिक दर्शन। 'आस्तिक दर्शन' वे हैं जो वेदों की प्रामाणिकता में पूर्णतः विश्वास करते हैं और उन्हें मानव जीवन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त को इसी अर्थ में आस्तिक दर्शन कहा जाता है। इन दर्शनों के विपरीत जो भारतीय दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार करते हैं उन्हें 'नास्तिक दर्शन' की संज्ञा दी जाती है। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों को इसी वर्ग में रखा जाता है क्योंकि ये तीनों दर्शन वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सामान्य भाषा के विपरीत भारतीय दार्शनिक भाषा में 'आस्तिक' और 'नास्तिक' इन दोनों शब्दों का ईश्वर विषयक विश्वास के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः ये दोनों शब्द केवल वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास से सम्बन्धित हैं। इसका प्रमाण यह है कि कुछ आस्तिक दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को पूर्णतः स्वीकार करते हुए भी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। सांख्य तथा मीमांसा ऐसे ही आस्तिक दर्शन हैं।

भारतीय दर्शन में ईश्वर सम्बन्धी विश्वास को अभिव्यक्त करने के लिये 'ईश्वरवाद' शब्द को और इस विश्वास के निषेध या अभाव को अभिव्यक्त करने के लिये 'अनीश्वरवाद' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् जो दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं उन्हें 'ईश्वरवादी दर्शन' और जो दर्शन उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उन्हें 'अनीश्वरवादी दर्शन' कहा जाता है। इसी अर्थ में परवर्ती न्याय—वैशेषिक, योग तथा वैष्णव दर्शनों को 'ईश्वरवादी दर्शन' और चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसा को 'अनीश्वरवादी दर्शन' माना जाता है। इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त की स्थिति पूर्णतः स्पष्ट नहीं है, क्योंकि सामान्य अर्थ में वह न तो ईश्वरवादी दर्शन है और न ही अनीश्वरवादी दर्शन।

ईश्वरवाद में विश्वास करने वाले सभी भारतीय दर्शन साधारणतः पारस्परिक मतभेद के बावजूद ईश्वर को तत्त्वमीमांसीय एवं नैतिक गुणों से परिपूर्ण तथा मनुष्य की पूजा या उपासना का विषय मानते हैं।

जिसे ध्यान में रखकर ही भारतीय अनीश्वरवाद को भली-भाँति समझ सकते हैं।

जो भारतीय दर्शन अनीश्वरवादी है अर्थात् जो ईश्वरवादी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित ईश्वरवाद को अस्वीकार करते हैं — उन्होंने अनेक युक्तियों अथवा तर्कों के आधार पर उपर्युक्त ईश्वर के अस्तित्व का निषेध किया है। ये दर्शन ईश्वर को एक ऐसा निराधार भ्रम मानते हैं जिसके अस्तित्व के लिये कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसके द्वारा जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या, मनुष्य के संकल्प—स्वातंत्र्य, नैतिक उत्तरदायित्व तथा मानव—जीवन के चरम लक्ष्य को निर्धारित करने में कोई सहायता प्राप्त नहीं होती क्योंकि ऐसा करने से अन्तर्विरोध एवं स्वतोव्याघात उपस्थित हो जाता है। ऐसी स्थिति में ईश्वर को केवल ईश्वरवादी विचारकों की अपनी वैयक्तिक कल्पना ही माना जा सकता है, कोई वास्तविक तथा वस्तुपरक सत्ता नहीं।

उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शनों का अनीश्वरवाद किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध न होकर अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र विषय है। इस बात का प्रमाण यह है कि ज्ञानमीमांसा और तत्वमीमांसा के विषय में परस्पर भिन्न अथवा विरोधी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले भिन्न—भिन्न दर्शनों ने भी निरीश्वरवाद का समान रूप से पूर्णतः समर्थन किया है। जैसे—सांख्य एवं मीमांसा ये दोनों आस्तिक दर्शन चार्वाक, जैन तथा बौद्ध इन तीनों नास्तिक दर्शनों के वेद—विरोधी विचारों और ज्ञानमीमांसा एवं तत्वमीमांसा सम्बन्धी उनके अन्य अनेक सिद्धान्तों का तीव्र विरोध करते हुए भी उनके समान ही निरीश्वरवाद को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन क हीनयान तथा महायान इन दोनों सम्प्रदायों में ज्ञानमीमांसा एवं तत्वमीमांसा से सम्बन्धित सिद्धान्तों के विषय में परस्पर गहरा मतभेद है किन्तु ये दोनों सम्प्रदाय अनीश्वरवाद का समान रूप से पूर्णतः समर्थन करते हैं। यही बात सांख्य और मीमांसा के संदर्भ में भी लागू होती है जो ज्ञानमीमांसा एवं तत्वमीमांसा के सम्बन्ध में परस्पर असहमत रहते हुए भी अनीश्वरवाद को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार स्पष्टतः यह परिलक्षित होता है कि भारतीय अनीश्वरवादी दर्शनों ने ईश्वर को एक ऐसी स्वतंत्र समस्या के रूप में स्वीकार किया है जिसका उनके अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। भारतीय अनीश्वरवाद के विषय में यह महत्वपूर्ण तथ्य उसे विश्व दर्शन में एक विशेष तथा अद्वितीय स्थिति प्रदान करता है जो संसार के अन्य दर्शनों से सम्बन्धित अनीश्वरवाद में दिखायी नहीं देती। वस्तुतः भारतीय अनीश्वरवाद की यह विशेषता उसे पाश्चात्य दर्शन के अनीश्वरवाद से पृथक करती है जो मूलतः केवल भौतिकवाद तथा प्रकृतिवाद पर आधारित है।

## 122 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद वेद

अनीश्वरवाद का मूलतत्त्व है ईश्वर विषयक विश्वास का निषेध अथवा खण्डन और यह निषेध अथवा खण्डन जिन सिद्धारन्तों पर मूलतः आधारित है उनकी पृष्ठभूमि हमें विश्व के प्राचीनतम् ग्रंथ वेदों में प्राप्त होती है, जो भारतीय धर्म एवं दर्शन के मूल स्रोत है।

सामान्यतः वेदों से प्राप्त होने वाली विचारधारा को भौतिकवादी तथा प्रकृतिवादी विचारधारा नहीं माना जाता क्योंकि अधिकतर विचारकों के अनुसार वैदिक ऋषि देवी-देवताओं के रूप में अनेक अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ताओं को स्वीकार करते थे। वैदिक युग का बहुदेववाद निश्चय ही भौतिकवाद अथवा प्रकृतिवाद नहीं है परन्तु इस मान्यता को स्वीकार करते हुए भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि जीवन और जगत् के प्रति वैदिक कालीन ऋषियों का दृष्टिकोण मुख्यतः इहलौकिक तथा भौतिकवादी ही था क्योंकि वे सांसारिक सुख समृद्धि तथा उसे प्राप्त करने के भौतिक साधनों को बहुत महत्व देते थे। यही कारण है कि उन्होंने इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, वायु आदि विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर उनकी स्तुति के लिये प्रस्तुत अपने मंत्रों में बार-बार ये प्रार्थनाएं की हैं कि उन्हें अधिकतम मात्रा में सभी सांसारिक सुखों के समस्त साधन प्रदान करने की कृपा करें। वेदों में हमें इस प्रकार की प्रार्थनाएं बहुत अधिक संख्या में उपलब्ध होती हैं। उदाहरणार्थ—“हे देवताओं के स्वामी तथा शत्रुओं का नाश करने वाले इन्द्र, हमें शारीरिक शक्ति धन-सम्पत्ति, स्त्रियाँ और भोजन प्रदान करो।”<sup>1</sup> “हे अग्नि, मेरा यह यज्ञ गाएं, भेड़ें और अश्व प्रदान करने वाला हो।”<sup>2</sup> “हे वरुण, यहाँ लोगों पर आकाश से पर्याप्त मात्रा में वर्षा करो।”<sup>3</sup> “हे रुद्र, जो रोग घरों में प्रवेश करके व्यापक रूप से फैल गया है उसे समाप्त कर दो; विपत्ति और दरिद्रता को हमसे दूर रखो; हमें सुख समृद्धि के बहुत से साधन उपलब्ध हो।”<sup>4</sup>

इस प्रकार इस संसार तथा स्वर्ग में भौतिक सुखों के लिये की गयी इस प्रकार की सैकड़ों प्रार्थनाएं हमें वेदों में सर्वत्र प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हम कह सकते हैं कि वेदों में भौतिक-वाद बीज रूप में अवश्य विद्यमान है।

वैदिक कालीन ऋषियों की ‘ऋत’ की अवधारणा भी कोई आध्यात्मिक अवधारणा नहीं है। उनके अनुसार ‘ऋत’ सर्वत्र विद्यमान वह व्यापक नियम है जिसके आधार पर सम्पूर्ण विश्व में व्यवस्था स्थापित होती है। अन्य शब्दों में यह ‘ऋत’ ही समस्त ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का मूल तत्त्व है जिसके कारण इसमें सदैव नियम का शासन बना रहता है। विश्व के सभी प्राणी तथा भौतिक पदार्थ ही नहीं अपितु समस्त देवी-देवता भी इसी ‘ऋत’ के शासन के अधीन हैं। ‘ऋत’ के कारण ही सूर्य, चन्द्र, तारागण,

जल, वायु, अग्नि आदि सभी नियमित रूप से अपना कार्य करते हैं, ऋतुओं में नियमित परिवर्तन होता है और रात के बाद दिन तथा दिन के बाद रात

होती है।<sup>5</sup> ऋत की इस अवधारणा से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि इसका आध्यात्मिकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यही बात एक अन्य महत्वपूर्ण वैदिक अवधारणा के विषय में कही जा सकती है और वह है 'सत्' की अवधारणा। वैदिक युग के ऋषि यह मानते थे कि समस्त ब्रह्माण्ड के मूल में एक ही परम तत्व है और इसी को उन्होंने 'सत्' कहा है। सभी देवी देवता इसी 'सत्' के विभिन्न रूप हैं। इस 'सत्' के लिये 'तत्' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। वैदिक ऋषियों का कथन है कि यह 'सत्' एक तथा अद्वितीय है और यही जगत् का आधारभूत कारण है। इसी एक परम सत्ता से समस्त प्राणियों तथा भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति हुयी है वास्तव में यह परमतत्व या सत्ता एक ही है किन्तु विद्वान लोग इसी 'सत्' को अग्नि,

यम आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।<sup>6</sup> सत् की इस अवधारणा से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस प्राचीन युग में भी वैदिक ऋषियों ने 'एकतत्ववाद' नामक दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह एकतत्ववाद एकेश्वरवाद से पूर्णतः भिन्न सिद्धान्त है। वस्तुतः इसका उस ईश्वरवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसका बाद में कुछ भारतीय दर्शनों में विकास हुआ है और जिसके अनुसार ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता, संरक्षक, पालनकर्ता संहारक तथा कर्माध्यक्ष है। वैदिक ऋषियों ने इस प्रकार के ईश्वरवाद का प्रतिपादन नहीं किया था।

इन अवधारणाओं के अतिरिक्त वेदों में संशयवाद तथा अज्ञेयवाद को भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जो निरीश्वरवाद के लिये आवश्यक आधारभूमि प्रस्तुत करते हैं। प्रायः यह माना जाता है कि वैदिक कालीन आर्य इन्द्र देवता को अत्यधिक महत्व देते थे क्योंकि वेदों में उसकी स्तुति के लिये बहुत अधिक संख्या में मंत्र पाये जाते हैं। परन्तु उस युग में भी ऋषि इन्द्र के अस्तित्व में सन्देह करने लगे थे। उदाहरणार्थ—'ऋग्वेद' के मण्डल 2 अनुवादक 12, सूक्त 5 में स्पष्टतः यह कहा गया है कि — 'इन्द्र नहीं है। उसे किसने देखा है ? वह कौन है जिसकी हम स्तुति करें ?' इस उदाहरण से पिरलक्षित होता है कि वैदिक युग में भी कुछ देवताओं के अस्तित्व को अस्वीकार किया जाने लगा था। वैदिक कालीन कुछ ऋषियों की इसी प्रवृत्ति को मेक्स मूलर ने 'अदेववाद' की संज्ञा दी है।<sup>7</sup> यद्यपि यह सत्य है कि अधिकतर वैदिक ऋषि इस 'अदेववाद' को स्वीकार नहीं करते थे, फिर भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उस समय भी कुछ विचारक अपने गम्भीर चिन्तन के फलस्वरूप तत्कालीन प्रचलित विश्वासों तथा मान्यताओं मकें संशय करने लगे थे। वे यह अनुभव करने लगे थे कि

## 124 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के मूल स्रोत तथा अन्य अज्ञात गूढ़ रहस्यों को संभवतः कोई भी नहीं जानता।

इसी प्रकार 'ऋग्वेद' के नासदीय सूक्त में भी संशयवाद तथा अज्ञेयवाद का रूप परिलक्षित होता है। जैसे—“उस समय, अर्थात् सृष्टि से पूर्व न सत् था न असत् ही था; तब न आकाश था और न स्वर्ग था जो उससे परे है। उस समय गति भी कहाँ थी और उसे कौन निर्देशित कर रहा था ? क्या वहाँ जल था ? ..... तब मृत्यु नहीं थी और न ही अमरत्व था; उस समय रात और दिन का पार्थक्य भी नहीं था। तब बस एक ही था जो वायुरहित होकर भी अपनी शक्ति द्वारा श्वास ले रहा था; उसके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु थी ही नहीं।..... उसे वास्तव में कौन जानता है और कौन बता सकता है ? यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुयी थी ? क्या देवता इसकी उत्पत्ति के साथ ही प्रकट हुए थे ?..... यह सृष्टि किसी के द्वारा उत्पन्न भी की गयी है या नहीं; इस बात को केवल वही जानता है जो स्वर्ग में उपस्थित रहकर इसे देखता है अथवा वह स्वयं भी इसे नहीं जानता।”<sup>8</sup> इसी प्रकार सृष्टि के आदि निर्माता और आत्मा के अस्तित्व के विषय में अपना संशय व्यक्त करते हुए एक अन्य वैदिक ऋषि कहता है; “आदि पुरुष को उत्पन्न होते हुए किसने देखा है , ..... पृथ्वी से श्वास और रक्त का निर्माण होता है किन्तु आत्मा कहाँ है ? ..... अपनी कम समझ तथा अपरिपक्व बुद्धि के कारण मैं उन विषयों के संदर्भ में प्रश्न पूछता हूँ जो देवताओं से भी छिपे हुए हैं।”<sup>9</sup>

उपर्युक्त संशयवाद तथा अज्ञेयवाद के अतिरिक्त कुछ वैदिक ऋषि उस प्राचीन युग में भी सृष्टि के मूल द्रव्य से सम्बन्धित ऐसे जटिल दार्शनिक प्रश्न उठाने लगे थे जिनके फलस्वरूप बाद में भौतिकवाद और प्रकृतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। उदाहरणार्थ—एक वैदिक ऋषि प्रश्न करता है कि — “सृष्टि का मूल तत्व अथवा अधिष्ठान क्या था ? उसका आरम्भ कैसे हुआ था ? वह कौन सी वस्तु थी जिससे सम्पूर्ण सृष्टि के आदि निर्माता ने अपनी महान शक्ति द्वारा पृथ्वी तथा स्वर्ग का निर्माण किया और उसने इनकी रचना कैसे की थी ? वह कौन सी लकड़ी थी और कौन सा वृक्ष था जिससे स्वर्ग तथा पृथ्वी का निर्माण किया गया ? बुद्धिमान मनुष्यों तुम अपने आप से पूछो कि जब उसने सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण किया तो वह स्वयं कहाँ खड़ा था।”<sup>10</sup> उपर्युक्त उद्धरण में वैदिक ऋषि ने सृष्टि से सम्बन्धित जो मूल प्रश्न उठाये हैं उनका समुचित एवं संतोषप्रद उत्तर खोजने के लिए विश्व के अनेक महान दार्शनिक शताब्दियों से प्रयास करते रहे हैं, किन्तु वे अभी तक इन प्रश्नों का कोई स्पष्ट निश्चित और सर्वमान्य उत्तर नहीं दे सके। इस तथ्य से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में कुछ वैदिक ऋषि आधारभूत जटिल दार्शनिक प्रश्नों के विषय में गम्भीर चिन्तन करने



लगे थे। वे केवल आस्था के आधार पर तत्कालीन प्रचलित सृष्टि विषयक मान्यताओं, विश्वासों तथा सिद्धान्तों को बिना किसी तर्क के स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं थे।

## उपनिषद्

अनीश्वरवाद की जो आधार-भूमि वेदों विशेषतः 'ऋग्वेद' में प्रारम्भ हुयी थी वह कुछ उपनिषदों में और अधिक विकसित तथा सुदृढ़ हुयी। सामान्यतः यह माना जाता है कि उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा की एकता के माध्यम से अध्यात्म विद्या का ही प्रतिपादन किया गया है, अतः उनका एक मात्र विषय अध्यात्मवाद है। शंकराचार्य, रामानुज तथा अन्य अनेक दार्शनिकों ने उपनिषदों के विषय में मुख्यतः इसी मत को स्वीकार किया है, परन्तु प्रमुख उपनिषदों का निष्पक्ष अध्ययन एवं विश्लेषण करने से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि उनके सम्बन्ध में इन दार्शनिकों का उपर्युक्त मत पूर्णतः उचित और सत्य नहीं है। वस्तुतः उपनिषदों की रचना किसी एक युग में तथा किसी एक व्यक्ति या सम्प्रदाय द्वारा नहीं की गयी थी, अतः वे किसी एक विशेष विचारधारा को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत नहीं करते विभिन्न समयों तथा भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा रचित होने के कारण उपनिषदों में केवल भिन्न-भिन्न ही नहीं अपितु कभी-कभी परस्पर विरोधी विचारधाराएं भी प्राप्त होती हैं। यही कारण है कि विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार उनकी भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि अध्यात्मवाद का प्रतिपादन करना ही उपनिषदों का एक मात्र लक्ष्य नहीं था। इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति यह है कि उनमें अध्यात्मवाद के साथ-साथ भौतिकवाद, प्रकृतिवाद आदि वे दार्शनिक सिद्धान्त भी विद्यमान हैं जिन पर अनीश्वरवाद मूलतः आधारित है।

“छांदोग्य उपनिषद्” में उद्दालक तथा उनके पुत्र के बीच परिसंवाद के माध्यम से भौतिकवाद और प्रकृतिवाद की अनेक आधारभूत मान्यताओं को अभिव्यक्त किया गया है। सृष्टि के मूल तत्व के विषय में अपने पुत्र श्वेतकेतु के प्रश्नों का उत्तर देते हुए उद्दालक कहते हैं कि “सृष्टि से पूर्व केवल सत् ही था, सत् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। कुछ लोगों का कथन है कि ‘सृष्टि से पूर्व केवल असत् था और इसी असत् से उसकी उत्पत्ति हुई है।’ परन्तु यह कैसे हो सकता है असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे सम्भव है ? इसके विपरीत सृष्टि से पूर्व वास्तव में केवल सत् ही था और सत् के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं था। सत् से तेज या अग्नि की, तेज से जल की तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है।”<sup>11</sup> वस्तुतः उद्दालक की मान्यता है कि ईश्वर भी शून्य या अभाव से जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि अभाव से केवल अभाव ही

## 126 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

उत्पन्न हो सकता है अन्य कोई वस्तु नहीं। जगत् के उत्पत्ति के सम्बन्ध में उद्दालक का मत मूलतः भौतिकवाद का समर्थन करता है जिसके अनुसार पुद्गल ही जगत् का मूल तत्व है। उद्दालक ने स्पष्ट कहा है कि “केवल उसी वस्तु के विषय में बात की जा सकती है जिसे सुना देखा या जाना जा सके।”<sup>12</sup> इसका तात्पर्य यही है कि उद्दालक के विचार में ‘सत्’ अतीन्द्रिय वस्तु न होकर मूलतः भौतिक तत्व है जिसका इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। विचार तथा मन के स्वरूप के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा है उससे भी यही प्रमाणित होता है कि वे मुख्यतः भौतिकवाद को स्वीकार करते थे क्योंकि उन्होंने शरीर की भांति मन तथा विचार को भी अन्न पर ही निर्भर माना है। उनका कथन है कि – “जिस प्रकार अन्न द्वारा शरीर के स्थूल भागों का निर्माण होता है उसी प्रकार उसके सूक्ष्म कणों द्वारा मन का भी निर्माण होता है।”<sup>13</sup> छांदोग्य उपनिषद के अतिरिक्त कुछ अन्य उपनिषद में भी भौतिकवाद से सम्बन्धित अनेक तत्व बीज रूप में प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, ‘कठ उपनिषद’ के अध्याय 2 श्लोक 5 में अग्नि को विश्व का मूल तत्व बताया गया है। इसी प्रकार, ‘वृहदारण्यक उपनिषद’ के अध्याय 5 श्लोक 1 में यह कहा गया है कि जल ही जगत् का मूल तत्व है। इस उपनिषद में, हम के अभौतिक स्वरूप के साथ-साथ उसके भौतिक स्वरूप का भी उल्लेख किया गया है। ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए इस उपनिषद में स्पष्टतः यह कहा गया है; ब्रह्म के दो रूप हैं—भौतिक और अभौतिक। वायु तथा आकाश को छोड़कर अन्य प्रत्येक वस्तु भौतिक, नश्वर, ठोस और सीमित है।<sup>14</sup> कठ उपनिषद में ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है जो आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करते थे और यह मानते थे कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का सदा के लिये अन्त हो जाता है।<sup>15</sup> यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय भी कुछ विचारक अध्यात्मवाद के स्थान पर भौतिकवाद में ही विश्वास करते थे।

भारतीय दर्शन में अनीश्वरवाद के विकास को समझने की दृष्टि से उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त ‘श्वेताश्वर उपनिषद’ का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इस उपनिषद में जगत् की उत्पत्ति के मूल कारण के रूप में ईश्वरवाद को अस्वीकार करने वाले अनेक सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। स्वयं ईश्वरवादी होने के कारण इस उपनिषद का रचयिता उन सभी सिद्धान्तों का खण्डन करना चाहता है जो ईश्वर के स्थान पर किसी अन्य तत्व को जगत् का मूल कारण मानते हैं। अपने इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए ‘श्वेताश्वर उपनिषद’ के रचयिता ने ईश्वरवाद का विरोध करने वाले निम्नलिखित सात सिद्धान्तों—कालवाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, पुरुषवाद, भौतिकवाद, स्वभाववाद और सांख्य दर्शन के प्रकृति का सिद्धान्त आदि का उल्लेख किया है। ये सिद्धान्त ईश्वर के स्थान पर

क्रमशःकाल, नियति, आकस्मिकता या संयोग, पुरुष, भौतिक तत्वों, स्वभाव एवं प्रकृति को ही विश्व की उत्पत्ति का मूल कारण मानते हैं।<sup>16</sup> स्पष्ट है कि ये सभी सिद्धान्त ईश्वर को जगत् का रचयिता न मानकर ईश्वरवाद का निषेध करते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद के रचयिता द्वारा उपर्युक्त सभी निरीश्वरवादी सिद्धान्तों के उल्लेख से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि भारत में निरीश्वरवाद का उदय गौतम बुद्ध से भी पहले हो चुका था क्योंकि विद्वानों ने इस उपनिषद का रचना-कला ईसा-पूर्वा सातवीं शताब्दी में माना है। इस उपनिषद से हमें यह भी पता चलता है कि अनेक भारतीय विचारक लगभग उसी समय से ईश्वरवाद का खण्डन करने लगे थे जिस समय ईश्वरवादियों द्वारा इसका स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया था। इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि भारत में निरीश्वरवाद उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं ईश्वरवाद।

इस प्रकार हम ऋग्वेद तथा कुछ उपनिषदों में अन्तर्निहित अनीश्वरवादी प्रवृत्ति का दर्शन करने के पश्चात् अब भारतीय दर्शनों विशेषतः चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसा आदि के संदर्भ में अनीश्वरवादी मान्यताओं एवं तर्कों की विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

## चार्वाक दर्शन

यह लगभग सर्वमान्य तथ्य है कि भारत में चार्वाक दर्शन ही एक मात्र ऐसा दर्शन है जिसे वास्तविक अर्थ में पूर्णतः भौतिकवादी दर्शन कहा जा सकता है, क्योंकि अन्य सभी अनीश्वरवादी एवं ईश्वरवादी भारतीय दर्शनों के विपरीत यह दर्शन ईश्वर की सत्ता के साथ-साथ आत्मा की अमरता पुनर्जन्म, कर्मवाद, तत्वमीमांसीय अर्थ में मोक्ष के सिद्धान्त, परलोक, स्वर्ग, नरक और अतिप्राकृतिक शक्तियों के रूप में समस्त देवी-देवताओं के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। इस दर्शन के अनुसार ऐसी कोई सत्ता या शक्ति नहीं है जो मानवीय अनुभव से परे तथा इन्द्रियातीत हो और जो किसी भी रूप में मनुष्य के जीवन को प्रभावित कर सके।

भौतिक चार्वाक दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है, जो केवल पुद्गल अथवा भौतिक पदार्थ को ही ब्रह्माण्ड की एक मात्र अंतिम सत्ता के रूप में स्वीकार करता है और अभौतिक या अतिप्राकृतिक मानी जाने वाली समस्त शक्तियों अथवा सत्ताओं का निषेध करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अभौतिक ईश्वर, आत्मा, देवी-देवता, स्वर्ग, नरक, शैतान, भूत-प्रेत आदि केवल काल्पनिक वस्तुएं हैं जिनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। केवल उन्हीं वस्तुओं तथा प्राणियों की वास्तविक सत्ता है जिनका निर्माण-पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि इन चार भौतिक तत्वों के परमाणुओं के संयोग से हुआ है और जिनका हम अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार

## 128 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

भौतिकवाद वह एकतत्त्ववादी सिद्धान्त है जो सिद्धान्त है जो समस्त आति-प्राकृतिक शक्तियों या सत्ताओं का निषेध करते हुए केवल पुद्गल को ब्रह्माण्ड की अंतिम सत्ता मानता है और मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि को ही ज्ञान के साधनों के रूप में स्वीकार करता है।

भौतिकवाद की परिभाषा देते हुए 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' में कहा गया है कि— "इस सिद्धान्त के अनुसार पुद्गल तथा उसकी गतियों और उसके परिवर्तित रूपों के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।" भौतिकवाद की इस परिभाषा को और अधिक स्पष्ट करते हुये बाल्डविन ने कहा है— "भौतिकवाद वह तत्वमीमांसीय सिद्धान्त है जो यह मानता है कि ब्रह्माण्ड से संबंधित समस्त तथ्यों की समुचित व्याख्या विस्तार-युक्त, अभेद्य, शाश्वत रूप से अस्तित्वान तथा गतिशील अथवा परिवर्तनशील पुद्गल के आधार पर ही की जा सकती है।"<sup>17</sup> एक अन्य विद्वान ओ० कुल्पे भौतिकवाद की मुख्य विशेषताओं को व्याख्यायित करते हुये कहते हैं कि— "अपने मुख्य विरोधी, अध्यात्मवाद की भाँति भौतिकवाद भी यह मानता है कि अंतिम मूल-तत्व एक ही है किन्तु अध्यात्मवाद के विपरीत उसका मत है कि इस मूल तत्व के स्वरूप का सम्बन्ध ज्ञान, विचार अथवा चेतना से न होकर विस्तार तथा अभेद्यता से है; यह अंतिम तत्व आत्मा या मनस् नहीं, अपितु पुद्गल अथवा भौतिक पदार्थ है। यदि मनस् को पुद्गल का पर्यायवाची नहीं तो उसका गुण अथवा परिणाम अवश्य माना जाता है।"<sup>18</sup>

कुल्पे की भाँति एफ० आर० टेनेंट ने भी भौतिकवाद के स्वरूप की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि— "भौतिकवादी सिद्धान्त के अनुसार विस्तार-युक्त अभेद्य, शाश्वत रूप से स्वतः अस्तित्ववान तथा गतिशील पुद्गल की ब्रह्माण्ड का एक मात्र मूल तत्व है; मनस या चेतना इस पुद्गल का केवल रूपान्तर अथवा गुण है और मानसिक प्रक्रियाओं को शारीरिक प्रक्रियाओं में परिवर्तित किया जा सकता है।"<sup>19</sup>

उपर्युक्त विचारकों के अतिरिक्त एक अन्य विद्वान अर्नन मकमुलिन ने भौतिकवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसका नकारात्मक व्याख्या की है। मकमुलिन कहते हैं कि— "भौतिकवाद की परिभाषा करने के लिये शायद यह स्पष्ट करना अधिक अच्छा होगा कि यह किन बातों का निषेध करता है। यह उन वस्तुओं को अस्वीकार करता है जो हमारे सामान्य अनुभव द्वारा पुद्गल से गुणात्मक रूप से मूलतः भिन्न तथा किसी अर्थ में उसकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मानी जाती है। इसलिये यह ईश्वर या देवताओं का निषेध करता है जिन पर ब्रह्माण्ड को अपने अस्तित्व अथवा कार्य के लिए निर्भर समझा जाता है; यह देवताओं अथवा आत्माओं के अस्तित्व का निषेध करता है जो विश्व की भौतिक व्यवस्था को प्रभावित कर सकते हैं किन्तु उकसी सीमाओं से मुक्त रहते हैं; यदि आत्मा को ऐसी

अभौतिक वस्तु माना जाय जो सिद्धान्ततः मानव शरीर से पृथक है तो यह ऐसी आत्मा के विचार पर आपत्ति करता है।<sup>20</sup> इस प्रकार मकमुलिन के अनुसार भौतिकवाद उन समस्त अभौतिक वस्तुओं, तत्वों, शक्तियों तथा सत्ताओं का निषेध करता है जिन्हें पुद्गल से मूलतः भिन्न माना जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भौतिकवाद के अनुसार पुद्गल ही ब्रह्माण्ड का एकमात्र अंतिम मूलतत्व है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पुद्गल के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों के मत में परिवर्तन होता रहा है। ल्यूसीपस; डेमोक्रीट्स; ऐपिक्यूरस आदि प्राचीन यूनानी भौतिकवादी दार्शनिक यह मानते थे कि पुद्गल वह वस्तु है जिसमें कुछ विशेष गुण जैसे—विस्तार, भार, घनत्व, ठोसपन, गति, प्रतिरोध, अभेद्यता, अनश्वरता आदि अनिवार्यतः पाये जाते हैं। अन्य शब्दों में पुद्गल वह अनश्वर भौतिक तत्व है जो विस्तार के कारण कुछ स्थान घेरता है; ठोसपन तथा घनत्व के फलस्वरूप जिसका कुछ भार होता है और जो प्रतिरोध करता है, जिसमें गति पायी जाती है जो इसके परिवर्तनों का मूल कारण है और अंत में जो अभेद्य होता है अर्थात् जिसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सकता। पुद्गल के इन गुणों से यह स्पष्ट है कि यह अनिवार्यतः निर्जीव जड़ तथा भौतिक वस्तु है जिसे सिद्धान्ततः इन्द्रियगोचर माना जा सकता है और जो प्रकृति का ही भाग होने के कारण प्राकृतिक है। इस दृष्टि से पुद्गल ईश्वर आत्मा आदि उन अभौतिक सत्ताओं से मूलतः भिन्न है जिन्हें अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ताएं माना जाता है। इसके अतिरिक्त अनिवार्यतः भौतिक होने के कारण पुद्गल विचार, स्मृति, कल्पना, इच्छा आदि मानसिक प्रक्रियाओं से भी भिन्न है जिन्हें भौतिक वस्तुएं नहीं माना जाता है। इन व्यक्तिनिष्ठ मानसिक प्रक्रियाओं के विपरीत पुद्गल अनिवार्यतः वस्तुनिष्ठ तथ्य है जिसका सामान्य परिस्थितियों में सभी साधारण व्यक्ति समान रूप से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इसी कारण जिसे सार्वजनिक कहा जा सकता है।

पुद्गल की यह विशेषता उसे निरीक्षण तथा प्रयोग की वैज्ञानिक विधि का विषय बनाती है जिसके फलस्वरूप समस्त वैज्ञानिक अनुसंधान संभव होते हैं। लगभग सभी दार्शनिक तथा वैज्ञानिक शताब्दियों तक पुद्गल के उपर्युक्त स्वरूप को ही प्रायः स्वीकार करते रहे हैं। परन्तु पिछले शताब्दी तथा वर्तमान शताब्दी में जो नवीनतम अनुसंधान हुये हैं उनके कारण पुद्गल के स्वरूप के विषय में वैज्ञानिकों के विचारों में कुछ परिवर्तन हुआ है। जैसे—अब परमाणु को अंतिम तथा अविभाज्य इकाई नहीं माना जाता क्योंकि वैज्ञानिकों ने परमाणु का विश्लेषण करके इसमें विद्यमान अनेक सूक्ष्म तत्वों का पता लगाया है। इसी प्रकार अब पुद्गल को केवल ठोस वस्तु न मानकर उसे ऊर्जा के रूप में भी देखा जाता है इसके लिए वैज्ञानिक 'पुद्गल ऊर्जा' अथवा 'मैटर-एनर्जी' शब्द का प्रयोग करते हैं।

## 130 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

इसका तात्पर्य यह है कि पुद्गल को ऊर्जा में तथा ऊर्जा को पुद्गल में परिवर्तित किया जा सकता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नवीनतम वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण अब पुद्गल के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया है। आज भी कोई विचारक पुद्गल को ईश्वर, आत्मा आदि आध्यात्मिक सत्ताओं की भाँति अभौतिक तथा अतिप्राकृतिक सत्ता नहीं मानता जिसका अर्थ यही है कि अब भी उसे मूलतः भौतिक तथा प्राकृतिक वस्तु ही माना जाता है जो कम से कम सिद्धान्ततः इन्द्रियगोचर है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि आधुनिकतम वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण पुद्गल के मूल स्वरूप में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं हुआ है जो उसे अभौतिक, अतिप्राकृतिक तथा आध्यात्मिक सत्ता के समान बना दें। भौतिकवाद का मूल आधार पुद्गल आज भी पूर्ववत् सुरक्षित है और यह महत्वपूर्ण तथा भौतिकवाद को ऐसे सभी सिद्धान्तों से पूर्णतः पृथक करता है जो किसी अभौतिक आध्यात्मिक या अतिप्राकृतिक सत्ता में विश्वास करते हैं।

ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से भौतिकवाद पूर्णतः अनुभववादी तथा यथार्थवादी सिद्धान्त है। इसका तात्पर्य यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे ज्ञान का एकमात्र साधन इन्द्रियजन्य अनुभव है और हम अपने अनुभव द्वारा जगत की वस्तुओं को उसी रूप में जानते हैं जिस रूप में वे हैं। पुनः केवल अनुभववाद में विश्वास करने के कारण भौतिकवाद के समर्थक प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का एक मात्र साधन अथवा प्रमाण मानते हैं। इस प्रत्यक्ष में इन्द्रियगोचर वस्तुओं का वाह्य ज्ञान तथा मानसिक भावनाओं का आंतरिक ज्ञान दोनों सम्मिलित है। भौतिकवाद की मान्यता है कि— हम ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकते जो हमारे समस्त इन्द्रियजन्य अनुभव से परे है। अतः किसी इन्द्रियजीत वस्तु के अस्तित्व की स्थापना करना अयुक्तिसंगत एवं निराधार है। इसी कारण भौतिकवादी दार्शनिक ईश्वर, आत्मा आदि इन्द्रियातीत सत्ताओं का निषेध करते हैं।

भौतिकवाद की तत्वमीमांसा मुख्यतः उसकी उपर्युक्त ज्ञानमीमांसा पर ही आधारित है। जैसा कि पूर्व से उल्लेख किया जा चुका है, भौतिकवाद पुद्गल को ही विश्व की एक मात्र अंतिम सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। अतः तत्वमीमांसा की दृष्टि से इसे एकतत्ववादी सिद्धान्त माना जाता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि समस्त प्राणियों, पेड़-पौधों तथा भौतिक वस्तुओं का अंतिम मूल आधार यह पुद्गल ही है जो विभिन्न सूक्ष्म परमाणुओं के रूप में ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है। ये सूक्ष्म परमाणु ही समय-समय पर विभिन्न वस्तुओं, पेड़-पौधों तथा प्राणियों के भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करते रहते हैं और ये कभी भी नष्ट नहीं होते। इसी कारण इन परमाणुओं के रूप में पुद्गल को शाश्वत और अनश्वर समझा जाता है। अन्य शब्दों में शाश्वता और अनश्वरता भी पुद्गल के अनिवार्य गुण हैं। इसका अर्थ यह है कि पुद्गल को किसी ने उत्पन्न नहीं किया है।

वह अनंत काल से परमाणुओं के रूप में सदा रहा है और इस रूप में अनंत काल तक सदैव बना रहेगा। सूक्ष्म भौतिक परमाणुओं के संयोग से निर्मित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की अपनी स्वतंत्र एवं वस्तुपरक सत्ता है। भौतिकवाद की यह आधारभूत तत्वमीमांसीय मान्यता उसे प्रत्ययवाद, अध्यात्मवाद, शंकराचार्य के अद्वैतवाद आदि से मूलतः पृथक् करती है। इन सभी सिद्धान्तों के विपरीत भौतिकवाद किसी अभौतिक आध्यात्मिक या अतिप्राकृतिक सत्ता अथवा शक्ति को स्वीकार नहीं करता क्योंकि अनुभवातीत होने के कारण ऐसी कोई भी सत्ता मनुष्य के ज्ञान को विषय नहीं हो सकती। जो वस्तु मनुष्य के ज्ञान का विषय नहीं है और न हो सकती है उसके अस्तित्व को स्वीकार करना अनुचित, निराधार एवं अयुक्तिसंगत है। भौतिकवादी दार्शनिकों का निश्चित मत है कि— ईश्वर, आत्मा आदि अभौतिक तथा अनुभवातीत सत्ताएं नितांत काल्पनिक हैं और इनका वास्तविक अस्तित्व सम्भव नहीं है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की व्याख्या के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्रह्माण्ड नित्य अथवा शाश्वत है और इसे कभी किसी ने उत्पन्न नहीं किया। ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध इन्हीं प्रबल तर्कों के कारण भौतिकवाद को अनीश्वरवादी सिद्धान्त माना जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अनीश्वरवाद चार्वाक दर्शन के अनुभववाद, प्रकृतिवाद तथा भौतिकवाद का अनिवार्य परिणाम है।

## जैनदर्शन

चार्वाक दर्शन की भाँति जैन दर्शन भी भारत का बहुत प्राचीन दर्शन है। ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, वर्धमान महावीर आदि महान विचारकों ने ईसा से सातवीं और छठी शताब्दी पूर्व इस दर्शन के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। जैन दर्शन निरीश्वरवादी एवं नास्तिक होते हुये भी भौतिकवादी नहीं हैं, चार्वाक दर्शन और जैन दर्शन में केवल इतनी ही समानता है कि इन दोनों दर्शनों के समर्थक ईश्वर के अस्तित्व और वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते। परन्तु इस समानता के होते हुए भी जैन दर्शन चार्वाक दर्शन के विपरीत मुख्यतः अध्यात्मवादी दर्शन हैं निरीश्वरवादी होते हुये भी चार्वाक दार्शनिकों ने इसकी पुष्टि के लिए कोई विशेष तर्क या प्रमाण नहीं दिये। वस्तुतः इनका निरीश्वरवाद उनकी प्रत्यक्षमूलक अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का ही अनिवार्य परिणाम था। परन्तु जैन दार्शनिकों ने अनेक प्रबल तर्कों द्वारा ईश्वरवाद का खण्डन करके सैद्धान्तिक दृष्टि से निरीश्वरवाद की पुष्टि की है। उनका निश्चित मत है कि ईश्वर के प्रत्यय में अनेक गम्भीर स्वतोव्याघात विद्यमान हैं, अतः तर्कों अथवा युक्तियों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना संभव नहीं है। अपने इस मत को सत्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने ईश्वरवाद के समर्थन में परवर्ती नैयायिकों

## 132 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

द्वारा दी गयी सभी महत्वपूर्ण युक्तियों का तर्कतः खण्डन करते हुए ईश्वर के प्रत्यय को तर्क विरुद्ध प्रमाणित किया है।

नैयायिक मुख्यतः कारण परक युक्ति द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, उनका कथन है कि यह विश्व घट, वस्त्र, भवन आदि के समान एक 'कार्य' अर्थात् रचित वस्तु है, अतः जिस प्रकार इन वस्तुओं का निर्माता कोई बुद्धिमान मनुष्य हाता है उसी प्रकार इस विश्व का भी कोई रचयिता अवश्य होना चाहिए और यह रचयिता सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ही है। इस प्रकार नैयायिकों ने विश्व को एक 'कार्य' और ईश्वर को उसका निमित्त कारण मानकर अनुमान द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

जैन दार्शनिकों यथा— हरिभद्र सूरी, गुणरत्न, प्रभाचंद्र एवं मल्लीसेन आदि ने सर्वप्रथम यह सिद्ध किया है कि नैयायिकों का ईश्वर विषयक अनुमान तार्किक दृष्टि से निराधार है। जैन दार्शनिकों ने प्रश्न किया है कि विश्व के कार्यत्व का क्या अर्थ है? अन्य शब्दों में हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि हम किस अर्थ में विश्व को 'कार्य' की संज्ञा दे सकते हैं। इसका उत्तर देते हुए जैन दार्शनिकों ने विश्व के कार्यत्व के प्रमुख चार अर्थ बताए हैं।

विश्व के कार्यत्व अथवा 'कार्य' होने का प्रथम अर्थ यह हो सकता है कि वह सावयव है—अर्थात् उसके बहुत से भाग हैं। इस प्रथम अर्थ के विरुद्ध आपत्ति करते हुए जैन दार्शनिक कहते हैं इसकी दो विभिन्न व्याख्याएं की जा सकती हैं। पहली व्याख्या के अनुसार 'कार्य' वह है जो किसी वस्तु के सभी भागों में विद्यमान रहता है। परन्तु यदि इस व्याख्या को स्वीकार किया जाय तो 'सामान्य' को भी 'कार्य' मानना पड़ेगा, क्योंकि वह किसी वस्तु के सभी भागों तथा एक ही जाति की सभी वस्तुओं में उपस्थित रहता है उदाहरणार्थ, 'घटत्व' घट के सभी भागों और सभी घटों में पाया जाता है। यही मत 'अश्वत्व', 'मनुष्यत्व' आदि अन्य सभी 'सामान्यों' के विषय में कही जा सकती है। परन्तु प्रथम अर्थ की यह व्याख्या स्वयं नैयायिकों के अपने सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि वे 'सामान्य' को 'कार्य' न मानकर शाश्वत अथवा नित्य मानते हैं। इस प्रकार स्वयं नैयायिकों के अपने सिद्धान्त के अनुसार विश्व के सावयव होने का अर्थ नहीं हो सकता कि 'कार्य' वह है जो किसी वस्तु के सभी भागों में विद्यमान रहता है।<sup>21</sup>

विश्व को 'कार्य' मानने से सम्बन्धित प्रथम अर्थ की दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि 'कार्य' वह है जिसकी उत्पत्ति अनेक भागों के संयोग से होती है। अर्थात् जो बहुत से भागों द्वारा निर्मित होता है। इस व्याख्या के विरुद्ध जैन दार्शनिकों का कथन है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो आकाश को भी 'कार्य' मानना पड़ेगा, क्योंकि उसके भी अनेक भाग या प्रदेश होते हैं परन्तु स्वयं नैयायिक आकाश को 'कार्य' न मानकर



शाश्वत अथवा नित्य द्रव्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह व्याख्या भी उनके अपने सिद्धान्त का खण्डन करती है।<sup>22</sup> इस प्रकार जैन दार्शनिकों के मतानुसार विश्व को इस अर्थ में 'कार्य' मानना है कि वह सावयव है अथवा उसे बहुत से भाग हैं नैयायिकों के अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

विश्व को 'कार्य' कहने का दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि विश्व में और इसके समस्त भागों में समवाय-सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ परमाणुओं और उनसे निर्मित विश्व की प्रत्येक वस्तु में यही समवाय-सम्बन्ध पाया जाता है जिसके कारण विश्व को 'कार्य' कहा जा सकता है। इस अर्थ के विरुद्ध जैन दार्शनिकों की आपत्ति यह है कि स्वयं नैयायिकों के अनुसार समवाय-सम्बन्ध शाश्वत अथवा नित्य है, ऐसी स्थिति में उसे 'कार्य' नहीं माना जा सकता क्योंकि 'कार्य' अनिवार्यतः अनित्य होता है। वस्तुतः समवाय को 'कार्य' मान लेने से नैयायिकों के अपने मत का खण्डन होता है।<sup>23</sup>

पुनः विश्व को कार्य कहने का तीसरा अर्थ यह हो सकता है कि वह एक ऐसी वस्तु है जिसे उत्पन्न किया गया है, और रचित या उत्पन्न की गयी प्रत्येक वस्तु को अनिवार्यतः 'कार्य' माना जाता है। इस अर्थ के विरुद्ध जैन दार्शनिकों का कहना है कि नैयायिक दिक् को नित्य या शाश्वत द्रव्य मानते हैं, किन्तु यदि इस अर्थ को स्वीकार किया जाय तो वह 'रचित वस्तु' अथवा कार्य हो जाता है, जो स्वयं नैयायिकों के अपने सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। इस प्रकार कार्यत्व का यह तीसरा अर्थ भी नैयायिकों के अपने मत का खण्डन करता है।<sup>24</sup>

कार्यत्व का चौथा अर्थ यह हो सकता है कि— "कार्य" वह है जिसमें परिवर्तन इहेता रहता है और इस अर्थ में विश्व को 'कार्य' कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। परन्तु जैन दार्शनिकों का कथन है कि 'कार्य' का यह अर्थ भी नैयायिकों के अपने मूल सिद्धान्त के विरुद्ध है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो ईश्वर को भी 'कार्य' मानना पड़ेगा क्योंकि स्वयं नैयायिकों के अनुसार ईश्वर भी कभी विश्व की रचना करता है और कभी उकसा संहार करता है। ईश्वर की इन क्रियाओं के कारण उसके स्वरूप एवं गुणों में परिवर्तन होता रहता है। ऐसी स्थिति में यदि परिवर्तनशीलता को ही कार्यत्व की कसौटी माना जाय तो ईश्वर को भी 'कार्य' की संज्ञा देना आवश्यक हो जाता है। परन्तु नैयायिक ईश्वर को शाश्वत, नित्य तथा अपरिवर्तनशील मानकर उसके कार्यत्व का निषेध करते हैं क्योंकि यदि उसे 'कार्य' माना जाय तो उसका भी कोई निमित्त कारण स्वीकार करना पड़ेगा और पुनः इस कारण का कोई अन्य कारण मानना पड़ेगा जिसके फलस्वरूप अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। स्पष्ट है कि अपने मूल सिद्धान्त में संगति बनाये रखते हुये नैयायिक किसी वस्तु की परिवर्तनशीलता को उसके 'कार्य' होने की कसौटी नहीं मान

## 134 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

सकते, यदि वे ऐसा करते हैं तो ईश्वर के सम्बन्ध में उनके अपने सिद्धान्त का खण्डन होता है।<sup>25</sup>

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्व के कार्यत्व से सम्बन्धित उपर्युक्त चारों अर्थ स्वयं नैयायिकों के अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध है। अतः वे इनमें से किसी भी अर्थ के आधार पर तर्कसंगत रूप से विश्व को 'कार्य' की संज्ञा नहीं दे सकते और यदि यह विश्व 'कार्य' नहीं है तो इसके कार्यत्व पर आधारित उनका वह अनुमान मिथ्या सिद्ध हो जाता है जिसके द्वारा उन्होंने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

इसके अतिरिक्त जैन दार्शनिक विशेषतः गुणरत्न ने यह तर्क भी दिया है कि विश्व को 'कार्य' मान लेने पर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता; क्योंकि विश्व का कार्यत्व केवल इतना ही प्रमाणित करता है कि उसका कोई कारण है; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह कारण सर्वा तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर है।<sup>26</sup>

नैयायिकों के ईश्वर विषयक अनुमान के सम्बन्ध में गुणरत्न तथा अन्य जैन दार्शनिकों ने यह मूल प्रश्न भी उठाया है कि क्या विश्व को 'कार्य' की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रश्न के उत्तर में इन दार्शनिकों का कथन है कि विश्व वास्तव में 'कार्य' नहीं है। सामान्यतः उस वस्तु को 'कार्य' कहा जाता है जिसकी एक विशेष काल से उत्पत्ति होती है और इसी कारण जो अनित्य है अर्थात् जिसका कभी अस्तित्व होता है और कभी नहीं होता। अन्य शब्दों में किसी वस्तु की अनित्यता उसके 'कार्य' होने की अनिवार्य शर्त है। यदि इस दृष्टि से विश्व के स्वरूप पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह वस्तुतः कार्य नहीं है क्योंकि उसे कभी किसी ने उत्पन्न नहीं किया और उसका अस्तित्व सदैव बना रहता है। हम सब केवल यही जानते हैं कि विश्व का अस्तित्व है; किसी को भी उसके अनस्तित्व का अनुभव नहीं होता और न हो सकता है। तात्पर्यतः विश्व अनित्य न होकर शाश्वत है, अतः उसे तर्कसंगत रूप से 'कार्य' नहीं माना जा सकता। यदि यह विश्व कार्य नहीं है तो इसके निमित्त कारण के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने का कोई आधार ही नहीं रह जाता। वस्तुतः विश्व को 'कार्य' मानना भ्रामक है, क्योंकि वह कोई एक वस्तु नहीं है जिसका एक कारण बताया जा सके। वास्तव में विश्व असंख्य वस्तुओं की समष्टि है जिसके भिन्न-भिन्न असंख्य कारण होते हैं। उसे एक ही वस्तु मानकर 'कार्य' की संज्ञा देना 'विश्व' शब्द का भ्रामक अर्थ में प्रयोग करना है।

पुनः जैन दार्शनिकों ने यह भी कहा है कि यदि विश्व को 'कार्य' मान लिया जाय तो भी, उसके निमित्त कारण के रूप में ईश्वर के स्वरूप का नैयायिकों ने जो वर्णन किया है, उसमें अनेक गंभीर दार्शनिक कठिनाइयाँ विद्यमान हैं। वस्तुतः वे ईश्वर को नित्य अभौतिक, अशरीरी एवं अपरिवर्तनशील भी मानना चाहते हैं और विश्व का रचयिता भी, किन्तु यदि

ईश्वर वास्तव में नित्य, अभौतिक, अशरीरी एवं अपरिवर्तनशील है तो वह विश्व का रचयिता नहीं हो सकता और यदि वह विश्व का रचयिता है तो उसे नित्य, अभौतिक, अशरीरी एवं अपरिवर्तनशील नहीं माना जा सकता। परन्तु नैयायिक इस आधारभूत तथ्य की उपेक्षा करते हुये ईश्वर की इन दोनों ही स्थितियों को एक साथ मान लेते हैं जो स्वतोव्याघातपूर्ण होने के कारण अयुक्तिसंगत है।<sup>27</sup>

जैन दार्शनिकों का मत है कि जब कोई रचयिता किसी वस्तु की रचना करता है तो उसकी क्रिया के लिए निम्नलिखित तत्वों का होना अनिवार्य है— (1) सामग्री तथा उपकरणों का ज्ञान (2) इनकी सहायता से उस वस्तु की रचना करने के लिए रचयिता की इच्छा (3) इस इच्छा को कार्यान्वित करने का संकल्प (4) रचयिता का शारीरिक या मानसिक प्रयास और (5) इस वस्तु की रचना के लिये आवश्यक साधनों का रचयिता द्वारा समुचित प्रयोग। रचना सम्बन्धी क्रिया के लिए आवश्यक इन सभी तत्वों से यह स्पष्ट है कि केवल शरीरवान रचयिता ही इस क्रिया को सम्पन्न कर सकता है। शरीर के अभाव में रचना की बात करना निरर्थक और निराधार कल्पना मात्र है।

स्वयं नैयायिकों ने अपने अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रसंग में उपर्युक्त तथ्य को स्पष्टतः स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ वे यह मानते हैं कि मुक्तावस्था में आत्मा शरीर रहित होने के कारण पूर्णतः निष्क्रिय रहती है। उनके इस मत को ध्यान में रखते हुये हम तर्कसंगत रूप से यह कह सकते हैं कि अशरीरी होने के कारण ईश्वर भी किसी प्रकार की क्रिया करने में असमर्थ है। अतः वह विश्व की रचना नहीं कर सकता।

जैन दार्शनिकों ने यह आपत्ति भी उठायी है कि विश्व की रचना करने के लिए ईश्वर की किसी अभिप्रेरणा को तर्कसंगत रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष मूल प्रश्न यह है कि यदि ईश्वर सर्वज्ञ एवं पूर्ण है तो उसने विश्व रचना क्यों की? नैयायिक कह सकते हैं कि — अदृष्ट के अनुसार जीवों को अनेक शुभ—अशुभ कर्मों का समुचित फल प्रदान करने के लिये ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। इसके विरुद्ध जैन दार्शनिकों का कथन है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो विश्व रचना के लिए ईश्वर को अदृष्ट पर निर्भर मानना अनिवार्य हो जाता है जिसके कारण वह असीम तथा सर्वशक्तिमान नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त जैन दार्शनिक यह भी कहते हैं कि विश्व की रचना से पूर्व कर्म करने वाले जीवों का अस्तित्व था ही नहीं, अतः उनके कर्मानुसार समुचित फल प्रदान करने का प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः जैन दार्शनिक कहते हैं कि यदि विश्व रचना का प्रयोजन जीवों के प्रति ईश्वर की करुणा है तो इसमें इतना अधिक दुःख क्यों विद्यमान है। अन्य शब्दों में करुणामय ईश्वर ने इस विश्व में जीवों के लिये इतना अधिक दुःख क्यों उत्पन्न किया

## 136 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

है? उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य धर्म दर्शन में जिसे 'अशुभ की समस्या' कहा जाता है और जो शताब्दियों से ईश्वरवाद के लिए एक गंभीर चुनौती मानी जाती रही है वह मुख्यतः इसी प्रश्न पर आधारित है। इस प्रश्न के उत्तर में कुछ ईश्वरवादियों ने यह कहा है कि जीवों को अपने शुभ-अशुभ कर्मों के कारण ही दुःख भोगना पड़ता है। अतः इस दुःख का उत्तरदायित्व ईश्वर पर न होकर स्वयं जीवों पर ही है। इसके विरुद्ध जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि यदि जीव अपने कर्मों के कारण दुःख भोगते हैं और ईश्वर उनके इस दुःख की निवृत्ति के लिये कुछ नहीं करता तो उसे दयालु अथवा करुणामय कैसे माना जा सकता है। यदि इस संसार में सर्वत्र कर्म के नियम का ही शासन है तो फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता है?

अन्त में जैन दार्शनिकों ने ईश्वर की करुणा के विरुद्ध यह तर्क भी प्रस्तुत किया है कि विश्व की रचना से पूर्व इस करुणा का कोई आधार ही नहीं था, क्योंकि जब विश्व रचना से पूर्व जीवों का अस्तित्व ही नहीं था तो उनके प्रति ईश्वर में करुणा उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार ईश्वर की करुणा अथवा दया विश्व-रचना की अभिप्रेरणा नहीं हो सकती।<sup>28</sup>

विश्व-रचना के लिये किसी विशेष ईश्वरीय अभिप्रेरणा अथवा प्रयोजन की कोई तर्कसंगत व्याख्या न कर पाने के कारण कुछ ईश्वरवादी दार्शनिक यह कहते हैं कि ईश्वर केवल अपने स्वभाव से प्रेरित होकर इस विश्व की रचना करता है। उपर्युक्त मत के विरुद्ध जैन दार्शनिकों ने आपत्ति की है कि पहले से विद्यमान जिन शाश्वत अथवा नित्य द्रव्यों द्वारा ईश्वर इस विश्व की सरचना करता है वे उसके स्वभाव के परिणाम नहीं हो सकते क्योंकि वे ईश्वर द्वारा रचित और उस पर निर्भर नहीं हैं। ऐसी स्थिति में नित्य द्रव्यों से यह आशा कैसे की जा सकती है, कि वे ईश्वर के स्वभाव के अनुरूप ही कार्य करेंगे? यह आपत्ति विशेषतः नैयायिकों के मत के विरुद्ध उठाई जा सकती है, क्योंकि वे परमाणु, दिक्, काल, आकाश आदि उन द्रव्यों को नित्य और ईश्वर से स्वतंत्र मानते हैं जिनके आधार पर ईश्वर ने विश्व की रचना की है।<sup>29</sup>

इस प्रकार विश्व के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर के विरुद्ध जैन दार्शनिकों ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं उनसे यह प्रमाणित होता है कि ईश्वर को विश्व का रचयिता मानने में अनेक गंभीर तार्किक विसंगतियाँ तथा स्वतोव्याघात विद्यमान हैं।

विश्व के निमित्त कारण अथवा रचयिता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत करने के अतिरिक्त जैन दार्शनिकों ने उसके स्वरूप एवं गुणों के विषय में भी अनेक गंभीर आपत्तियाँ उठाते हुये कहते हैं कि यदि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया जाय और यह भी मान लिया जाय कि वह विश्व का निमित्त कारण अथवा रचयिता है तो भी

तर्कसंगत रूप से ईश्वर के उन गुणों का समर्थन करना संभव नहीं है जो ईश्वरवादी दार्शनिक उसमें आरोपित करते हैं। ईश्वरवादी ईश्वर को नित्यस अपरिवर्तनशील, पूर्णतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक, करुणामय अथवा अत्यन्त दयालु मानते हैं किन्तु जैन दार्शनिकों का मत है कि ईश्वर के इन गुणों को तार्किक दृष्टि से स्वीकार करना असंभव है।<sup>30</sup>

पुनः जैन दार्शनिक ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए नैयायिकों द्वारा दी गयी नीति परक युक्ति का भी खण्डन किया है। नैयायिक विश्व रचयिता के साथ-साथ कर्माध्यक्ष के रूप में भी ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य के शुभ-अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप उसकी आत्मा में जिस अदृष्ट का निर्माण होता है वह जड़ होने के कारण स्वयं मनुष्य को उसके कर्मों का समुचित फल प्रदान नहीं कर सकता। अतः यह फल प्रदान करने के लिये किसी बुद्धिमान शक्ति के मार्गदर्शन की आवश्यकता है और वह शक्ति सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ही है। इस प्रकार नैयायिकों ने ईश्वर को अदृष्ट का नियन्ता और मार्गदर्शक मानकर कर्माध्यक्ष के रूप में उसके अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु इसके विरुद्ध जैन दार्शनिकों का कथन है कि अदृष्ट के परिणामस्वरूप मनुष्य को उचित समय पर उसके कर्मों का फल स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। अतः इसके लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। अन्य अनेक नियमों की भाँति कर्म के नियम की प्रक्रिया भी वस्तुतः यांत्रिक प्रक्रिया है जो किसी वाह्य शक्ति के मार्गदर्शन के बिना ही स्वतः सम्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में अदृष्ट के नियंत्रण एवं मार्गदर्शन के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनावश्यक और व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त नैयायिकों की यह नीतिपरक युक्ति ईश्वर की स्वतंत्रता और सर्वशक्तिमता को भी समाप्त कर देती है क्योंकि यदि ईश्वर मनुष्यों को उनके कर्मों का फल प्रदान करने के लिए अदृष्ट पर ही निर्भर है और वह उसमें कोई परिवर्तन भी नहीं कर सकता तो उसे स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान नहीं माना जा सकता। परन्तु नैयायिक ईश्वर को अदृष्ट पर निर्भर मानते हुए भी यह कहते हैं कि वह स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान है। अतः इन दोनों परस्पर विरोधी मान्यताओं को एक ही साथ स्वीकार करने के कारण उनके ईश्वर विषयक सिद्धान्त में असंगति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के मतानुसार नैयायिकों की नीतिपरक युक्ति भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकती।<sup>31</sup>

ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध जैन दार्शनिकों के उपयुक्त सभी तर्कों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि उनके दर्शन में ईश्वरवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। इसी कारण जैन दर्शन को निरीश्वरवादी दर्शन माना जाता है।

## 138 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

जैन दर्शन तथा धर्म में ईश्वर का स्थान न होने के कारण मनुष्य के कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिये उसके अपने प्रयास को विशेष महत्व दिया गया है। ईश्वरवादी दार्शनिकों के विपरीत जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि मनुष्य ईश्वर के अनुग्रह द्वारा नहीं अपितु स्वयं अपने पवित्र नैतिक आचरण द्वारा कैवल्य प्राप्त कर सकता है। इसी कारण जैन दर्शन की आचारमीमांसा में मोक्ष प्राप्ति के लिये ईश्वरोपासना को कोई स्थान नहीं दिया गया। इस दर्शन के समर्थकों का निश्चित मत है कि सांसारिक बंधन के मूल कारण समस्त कर्मों को नैतिक उपायों द्वारा नष्ट करके मनुष्य स्वयं ही अपनी मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है। अतः इसके लिये उसे ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति पर निर्भर रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह अपने चरित्र तथा आचरण को सभी दृष्टिकोण से पूर्णतः पवित्र रखे तो वह कर्मों के बंधन से मुक्त होकर कैवल्य प्राप्त कर सकता है।

## बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन एवं धर्म के आदि प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध अपने धर्म का प्रचार-प्रसारी करने हेतु मौखिक उपदेश ही दिया करते थे। उनके दर्शन एवं धर्म का भारतीय दर्शन के इतिहास में ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व दर्शन के इतिहास में भी महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इसने प्राचीन काल से अब तक करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित किया है और आज भी कर रहा है। मनुष्य के समस्त दुःखों का निराकरण इस दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है जिसे ध्यान में रखते हुए गौतम बुद्ध ने इसका सर्वप्रथम उपदेश दिया था। वे यह मानते थे कि दुःख से मुक्ति मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिए उसे स्वयं ही प्रयास करना होगा। उनका दृढ़ विश्वास था कि 'दुःख से मुक्ति' ईश्वर, आत्मा, जगत आदि से सम्बन्धित दार्शनिक समस्याओं में उलझने अथवा इनके विषय में वाद-विवाद करने से नहीं, अपितु आचरण की पवित्रता तथा दुःख-निरोध के प्रयास द्वारा ही संभव है। अतः उन्होंने तत्वमीमांसीय-दार्शनिक प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहकर अपने शिष्यों और अन्य व्यक्तियों को इन प्रश्नों में न उलझने का उपदेश दिया।

बुद्ध के मतानुसार ईश्वर, आत्मा एवं जगत आदि से सम्बन्धित दार्शनिक प्रश्नों के विषय में वाद-विवाद के परिणाम स्वरूप मनुष्य के दुःख का निराकरण नहीं होता। ऐसी स्थिति में इन प्रश्नों को उठानों और इनके सम्बन्ध में परस्पर संघर्ष करना पूर्णतः व्यर्थ है। दुःख निरोध की दृष्टि से ईश्वर, आत्मा, जगत आदि से संबंधित सैद्धान्तिक प्रश्नों के विषय में वाद-विवाद की निरर्थकता को अभिव्यक्त करते हुये मालूक्य पुत्र से कहते हैं—“मान लीजिए कोई मनुष्य किसी व्यक्ति के विषाक्त तीर से घायल हो गया है। उसके मित्र उसे शीघ्र ही चिकित्सक के पास ले जाते हैं। वह

चिकित्सक उस मनुष्य के घाव से तीर निकालने लगता है। परन्तु वह घायल मनुष्य चिल्लाते हुए तुरन्त कहता है, 'ठहरो', मैं इस तीर को तब तक नहीं निकालने दूँगा जब तक मैं यह न जान लूँ कि तीर मारने वाला कौन है— वह क्षत्रिय है या ब्राह्मण; वैश्य है या शुद्र; वह किस परिवार का सदस्य है; वह लम्बा है अथवा छोटा; उसके द्वारा चलाया गया तीर किस प्रकार है आदि। उस घायल मनुष्य द्वारा यह सब प्रश्न पूछने का एक मात्र परिणाम यही होगा कि इनके उत्तर प्राप्त करने से हपले ही वह मर जाएगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि से सम्बन्धित सभी प्रश्नों के उत्तर पाना चाहता है वह भी ये उत्तर प्राप्त करने से पहले ही मर जाएगा और यह कभी न जान सकेगा कि दुःख क्या है, इसकी उत्पत्ति कैसे होती है

तथा इससे मुक्ति किस प्रकार संभव है।<sup>32</sup> इस व्यावहारिक उदाहरण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे मानवीय दुःख निवृत्ति से तत्वमीमांसीय—दार्शनिक प्रश्नों के विषय में वाद—विवाद को निरर्थक मानते हुये ऐसे प्रश्नों को 'अत्याकृत' कहा है।

परन्तु यद्यपि गौतम बुद्ध ने सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक प्रश्नों को 'अव्याकृत' माने हुये इनसे सम्बन्धित विचार—विमर्श का निषेध किया था, फिर भी कालान्तर में उनके शिष्य तथा अनुयायी इन शाश्वत प्रश्नों के विषय में वाद—विवाद से बच नहीं सके। बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके शिष्यों में इन दार्शनिक प्रश्नों को लेकर तीव्र वाद—विवाद प्रारम्भ हो गया। इन शिष्यों ने उनके मौखिक धर्मोपदेशों को भिन्न—भिन्न अर्थों ने ग्रहण किया, जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म एवं दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं का विकास हुआ।

यद्यपि हीनयान् एवं महायान सम्प्रदायों के विचारकों में अन्य दार्शनिक विषयों और समस्याओं के विषय में पर्याप्त मतभेद है, फिर भी अनीश्वरवाद के सम्बन्ध में वे परस्पर सहमत प्रतीत होते हैं। इन दोनों सम्प्रदायों के अनेक महान दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता के समर्थन में नैयायिकों तथा अन्य भारतीय ईश्वरवादियों द्वारा दी गयी युक्तियों का खण्डन करके और ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध स्वयं अपने तर्क देकर निरीश्वरवाद का पूर्ण रूप से समर्थन किया है।

पूर्व में हम देख चुके हैं कि— गौतम बुद्ध के दर्शन का मूल उद्देश्य दुःख से मुनष्य की मुक्ति है। परन्तु मनुष्य की दुःख—निवृत्ति में बुद्ध ने ईश्वर तथा उसकी उपासना को कोई महत्व नहीं देते। यहाँ तक कि उन्होंने अपने शिष्यों को ईश्वर की चर्चा न करने और उसके विषय में कोई प्रश्न न पूछने का स्पष्ट आदेश दिया था, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि दुःख निवृत्ति के लिये ईश्वर चर्चा अप्रासंगिक एवं अनावश्यक है। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध अनेक व्यावहारिक तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। इन तर्कों द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर को

## 140 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

जगत का रचयिता मानकर जिस रूप में सामान्यतः उसकी अवधारणा को स्वीकार किया जाता है उनमें गम्भीर असंगतियाँ तथा स्वतोव्याघात विद्यमान हैं।

बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष ने अपने ग्रंथ 'बुद्ध-चरित' में ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध गौतम बुद्ध के व्यावहारिक तर्कों का वर्णन करते हुए लिखा है कि— "यदि ईश्वर ने इस जगत की रचना की होती तो इसमें न कोई परिवर्तन होता और न विनाश, इसमें कोई दुःख या विपत्ति भी नहीं होती और उचित अथवा अनुचित कुछ भी न होता, क्योंकि सभी अच्छी-बुरी वस्तुएं उसी से उत्पन्न हुयी हैं। यदि सभी प्राणियों में उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख, प्रेम एवं घृणा ईश्वर के ही कार्य हैं तो स्वयं उसमें भी सुख तथा दुःख, प्रेम तथा घृणा विद्यमान होंगे और यदि उसमें ये सब हैं तो उसे पूर्ण कैसे माना जा सकता है? यदि ईश्वर ही रचयिता है और सभी प्राणियों को उसी की शक्ति के अधीन रहकर मौन रूप से सब कुछ करना पड़ता है तो सद्गुण की प्रशंसा का क्या लाभ है? जब उचित और अनुचित कर्म करना एक समान ही होगा, क्योंकि सभी कर्म ईश्वर के ही कर्म होंगे और उसके लिए ये सब एक ही समान होंगे। परन्तु यदि दुःख या पीड़ा का कोई अन्य कारण माना जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि कोई वस्तु ऐसी भी है जिसका कारण ईश्वर नहीं है। फिर सभी वस्तुओं को भी अकारण ही क्यों न मान लिया जाए? इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर रचयिता है तो उसका कार्य या तो सोद्देश्य होगा या निरुद्देश्य। यदि वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कार्य करता है तो उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता क्योंकि उद्देश्य में किसी आवश्यकता की पूर्ति अनिवार्यतः निहित रहती है। यदि वह निरुद्देश्य कार्य करता है तो वह पालग अथवा अबोध शिशु के समान है। फिर यदि ईश्वर ही रचयिता है तो लोग सदा उसके प्रति सादर समर्पित क्यों नहीं होते? वे उसकी पूजा तभी क्यों करते हैं जब उन्हें इसकी आवश्यकता होती है। लोग एक ही ईश्वर के स्थान पर अनेक देवी-देवताओं की पूजा क्यों करते हैं? इस प्रकार इन बौद्धिक युक्तियों द्वारा ईश्वर का विचार मिथ्या प्रमाणित हो जाता है, और इसमें विद्यमान समस्त असंगतियों को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए।<sup>33</sup>

अश्वघोष के अतिरिक्त शांतिदेव ने भी ईश्वर के विरुद्ध अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि— "यदि ईश्वर को पृथ्वी, जल आदि की भांति एक तथ्य माना जाय तो वह निष्क्रिय हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर आत्मा है तो स्थायी द्रव्य के रूप में आत्मा के अस्तित्व के विरुद्ध बौद्ध दार्शनिकों ने जो तर्क दिये हैं उनके द्वारा वह मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यदि वह अज्ञेय है तो जगत के रचयिता के रूप में भी हम उसे कभी नहीं जान सकते। ..... इसी प्रकार जगत और देवताओं की रचना भी उसने नहीं की है, क्योंकि ये स्वतः अस्तित्ववान हैं। सुख और



दुःख कर्मों के कारण उत्पन्न होते हैं अतः वह इनका भी रचयिता नहीं है। ...  
..... जगत के रचयिता के रूप में ईश्वर को स्वतंत्र एवं सर्वशक्तिमान नहीं  
कहा जा सकता और ऐसे सीमित ईश्वर को सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी कहना  
उचित नहीं है।<sup>34</sup>

गौतम बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने जगत के रचयिता के साथ-साथ कर्माध्यक्ष के रूप में भी ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया है। उनका मत है कि यह सम्पूर्ण विश्व कर्म के नियम द्वारा शासित होता है किन्तु इस नियम का कोई मार्गदर्शक अथवा नियंता नहीं है। यह नियम किसी वाह्य शक्ति के हस्तक्षेप के बिना ही स्वतः कार्य करता है, अतः इसके मार्गदर्शक के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। संसार के समस्त जीव कर्म के इसी नियम द्वारा नियंत्रित होते हैं और केवल अपने कर्मों के कारण ही सुख-दुख भोगते हैं। यह एक ऐसा अनिवार्य नियम है जिसमें कोई भी हस्तक्षेप तथा परिवर्तन नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपने कर्मों के फल से कभी नहीं बच सकता। अतः इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करना व्यर्थ है। वस्तुतः मानव ईश्वर की कृपा और सहायता के बिना ही स्वयं अपने कर्मों द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकता है। अपनी इस मान्यता के कारण गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा "आत्मदीपो भव" अर्थात् 'तुम अपने दीपक स्वयं बनो और अपना मार्ग स्वयं ही खोजो'। इस प्रकार बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया है।

डा० राधाकृष्णन कहते हैं कि— बुद्ध ने यह अनुभव किया था कि भयत्रस्त करने वाले देवताओं के डर आगामी जीवन से अत्याचारों की आशंका तथा चाटुकारिता एवं प्रशंसा द्वारा देवताओं की सद्विच्छा को खरीदने से सम्बन्धित मानवीय आत्मा के भ्रष्टाचार के निराकरण का एक मात्र उपाय है इन देवताओं को सदा के लिये नष्ट कर देना। आदिकारण का विचार नैतिक प्रगति में हमारी कोई सहायता नहीं करता यह हमें अकर्मण्य तथा अनुत्तरदायी बना देता है। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो अच्छा तथा बुरा जो कुछ भी होता है उस सबका कारण केवल वही है और मनुष्य को कोई स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि वह दुराचार से घृणा करता है और अशुभ की रचना से इन्कार करता है तो वह सम्पूर्ण विश्व का कर्ता नहीं है।  
..... यदि ईश्वर का अनुग्रह सर्वाधिक शक्तिशाली है, यदि इसके कारण अपराधी क्षणमात्र में संत हो जाता है तो हम सदगुण युक्त जीवन और चरित्र निर्माण के प्रति उदासीन हो सकते हैं। चरित्र-निर्माण के लिये हमारा प्रयास व्यर्थ हो जाता है। केवल स्वर्ग और नरक ही हमारे सदगुण तथा दुर्गण के पुरस्कार हो जाते हैं ..... इस प्रचलित विचार का विरोध करते हुए बुद्ध को यह घोषित करना पड़ा कि सदगुण तथा सुख दुर्गण और दुःख में अनिवार्य सम्बन्ध है। ..... वस्तुओं की प्राकृतिक व्याख्या द्वारा

## 142 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

धार्मिक भ्रम का उन्मूलन कर दिया गया। व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की प्रकल्पना इसके साथ असंगत प्रतीत होने लगी। कर्म का नियम हमारे लिये यह आवश्यक बना देता है कि हम पक्षपात, अकारण मत-परिवर्तन तथा मनमाने आचरण से सम्बन्धित सभी विचारों को अस्वीकार कर दे। ..... इसके अतिरिक्त जीवन के हृदय विदारक तथ्यों के साथ प्रेममय ईश्वर में विश्वास की संगति स्थापित करना सरल नहीं है। संसार के दुःख को केवल कर्म की प्राकल्पना के आधार पर ही समझा जा सकता है। यही संसार के समस्त प्राणियों की व्याख्या करता है। ..... कर्म की अपेक्षा कुछ भी उत्कृष्ट नहीं है। ..... ईश्वर हमारे जीवन का निर्माता नहीं है। मनुष्य का जन्म उसके अपने कर्मों के कारण ही होता है। यह भी उसके कर्मों पर ही निर्भर है कि उसके माता-पिता कौन होंगे। ..... संसार की भिन्नता कर्मों के कारण ही उत्पन्न होती है। ..... बुद्ध इस सत्य को समझने में हमारी सहायता करते हैं। वे विगत के किन्ही विशेष युगों में विश्व-रचयिता की कल्पना नहीं करते।<sup>35</sup>

इसी प्रकार एक अन्य विचारक वैली पूलिन कहते हैं कि— “दार्शनिक विचारधारा रूप में बौद्ध मत उस ईश्वर के विचार के पूर्णतः विरुद्ध है जिसे सर्वोच्च सत्ता माना जाता है। ..... सामान्यतः उसका विश्वास है कि कर्मों का फल उस शक्ति के कारण स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, जिसे ‘अदृष्ट’ कहा जाता है ..... और इसलिए यह दर्शन निरीश्वरवादी है, क्योंकि यह व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता के रूप में ईश्वर के विचार का निषेध करता है।<sup>36</sup>

वस्तुतः गौतम बुद्ध के समस्त प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों में ईश्वर की सत्ता का निषेध किया गया है। यद्यपि उन्होंने ईश्वर, आत्मा, जगत आदि से सम्बन्धित दार्शनिक प्रश्नों को ‘अव्याकृत’ कह कर अपने शिष्यों को इनमें न उलझने का उपदेश दिया था, फिर भी कालान्तर में स्वयं उन्हें इन शाश्वत प्रश्नों के विषय में अपने विचार व्यक्त करने पड़े। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में बुद्ध द्वारा प्रकट किये गये विचारों की व्याख्या के परिणामस्वरूप बौद्ध दर्शन के अनेक महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हुआ।

बौद्ध दर्शन के प्रथम प्रमुख सिद्धान्त ‘प्रतीत्यसमुत्पाद’ के अनुसार— विश्व में कुछ भी अकस्मात् या अकारण घटित नहीं होता और प्रत्येक वस्तु किसी अन्य वस्तु का परिणाम हाने के कारण उस पर निर्भर रहती है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए बुद्ध ने कहा था कि यह कारण कार्य का अनिवार्य विश्व व्यापी नियम है जो स्वतः क्रियाशील रहता है और सिजके मूल में चेतना शक्ति निहित नहीं है। संसार में जिन वस्तुओं का अस्तित्व है और इसमें जो घटनाएं घटित होती हैं उन सबकी

व्याख्या इसी सर्वव्यापी कारण-कार्य नियम के द्वारा की जा सकती है। अतः इससे पृथक् तथा परे कोई वस्तु नहीं है।

पुनः गौतम बुद्ध अपने धर्मोपदेशों में क्षणिकवाद की स्थापना करते हुए कहते हैं कि विश्व में कोई भी वस्तु नित्य, शाश्वत या स्थायी नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। यह विश्व एक सतत् गतिशील प्रवाह है जिसमें किसी प्रकार की नित्य अथवा शाश्वत सत्ता संभव नहीं है। निरन्तर परिवर्तन का यह विश्वव्यापी नियम समस्त वस्तुओं तथा प्राणियों पर समान रूप से लागू होता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था— इस संसार में सभी वस्तुएं, अनित्य, परिवर्तनशील तथा क्षणिक हैं; किन्तु अविधा के कारण मनुष्य किसी वस्तु को नित्य अथवा स्थायी समझ लेता है। प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण एक अवस्था के पश्चात् दूसरी अवस्था उत्पन्न होती रहती है, परन्तु हम भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की इस अटूट परम्परा या श्रृंखला को नहीं जान पाते अतः हमें वस्तुएं स्थायी प्रतीत होती हैं। इस तथ्य को नदी के प्रवाह तथा दीप-शिखा के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। बौद्ध दर्शन का यह क्षणिकवाद स्थायी द्रव्य के रूप में अजर-अमर आत्मा के साथ-साथ ईश्वर के अस्तित्व का भी स्पष्टतः खण्डन करता है। क्योंकि ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को एक ऐसी नित्य, शाश्वत सत्ता मानते हैं जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। परन्तु क्षणिकवाद के अनुसार ऐसे शाश्वत या अपरिवर्तनशील ईश्वर का अस्तित्व असंभव है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्त में भी ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है। यद्यपि निर्वाण के अर्थ एवं स्वरूप के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना बहुत कठिन है, क्योंकि इसकी व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। परन्तु फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण के स्वरूप को समझने और उसकी प्राप्ति के लिए ईश्वर का कोई महत्व नहीं है। बुद्ध ने दुःख के स्वरूप, उसके मूल कारणों तथा उससे मुक्ति प्राप्त करने के मार्ग या उपायों का जो विस्तृत विश्लेषण किया है उसमें ईश्वर तथा उसकी उपासना को कोई स्थान पनी दिया गया। इस विश्लेषण में केवल यही बताया गया है कि दुःख का स्वरूप क्या है, उसके कारण कौन-कौन से हैं और किन उपायों द्वारा मनुष्य उससे मुक्त हो सकता है। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्यों का सम्बन्ध मूलतः इन्हीं प्रश्नों से है और इन आर्य सत्यों में उन्होंने कहीं भी ईश्वर की चर्चा नहीं की है। इससे यही सिद्ध होता है कि वे निर्वाण के लिए ईश्वर तथा उसकी उपासना को अप्रासंगिक और अनावश्यक समझते थे। वस्तुतः उनका दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य केवल अपने पवित्र नैतिक आचरण द्वारा ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति के अनुग्रह द्वारा नहीं। इसी कारण उन्होंने निर्वाण प्राप्ति के लिए मानव को स्वावलम्बी बनने का उपदेश दिया था। इस प्रकार गौतम बुद्ध द्वारा

## 144 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

प्रतिपादित अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की भाँति उनका निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्त भी ईश्वर की सत्ता का निषेध करता है। अतः उनके सम्पूर्ण दर्शन को वास्तविक अर्थ में निरीश्वरवादी दर्शन कहा जा सकता है।

### सांख्य दर्शन –

चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों की भाँति सांख्य भी प्राचीनतम भारतीय दर्शन है। उपनिषदों, 'महाभारत' और पुराणों में इस दर्शन के अनेक मूल सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है जिससे इसकी प्राचीनता स्पष्टतः प्रमाणित होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में भारत में सांख्य की बहुत प्रतिष्ठा थी जो कालान्तर में धीरे-धीरे बहुत कम हो गयी एवं समय के साथ-साथ इस दर्शन के बहुत से ग्रंथ लुप्त भी हो गये। के० सी० भट्टाचार्य लिखते हैं—“ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य का बहुत सारा साहित्य लुप्त हो गया और प्राचीन काल से भाष्यकारों के युग तक की परम्परा में कोई निरंतरता दिखायी नहीं देती।”<sup>37</sup> एक अन्य भारतीय विद्वान देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय का मत है कि— “लोकायत को छोड़कर इस देश में संभवतः अन्य किसी दर्शन को ऐसे व्यापक विनाश का सामना नहीं करना पड़ा जैसा सांख्य ने किया। इस अत्यंत प्राचीन तथा कभी बहुत प्रभावशाली दर्शन का आज जो कुछ भी उपलब्ध है वह वास्तव में टूटे हुए टुकड़ों का ढेर मात्र है। ..... हमें सांख्य के कुछ प्राचीन ग्रंथों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, किन्तु वास्तविक ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं।”<sup>38</sup>

परन्तु चार्वाक दर्शन के विपरीत सांख्य के कुछ मूल ग्रंथ सौभाग्यवश आज भी हमें उपलब्ध हैं। इनमें सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल का 'सांख्य सूत्र' तथा ईश्वर कृष्ण की 'सांख्य-कारिका' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कपिल तथा ईश्वर कृष्ण इन दो महान सांख्याचार्यों के अतिरिक्त आसुरी, पंचशिख रुद्रित, वाचस्पति मिश्र, गौड़पाद, अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु आदि अन्य अनेक आचार्यों ने भी सांख्य दर्शन सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना करके इसके विकास में विशेष योगदान किया। फलस्वरूप हमें सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्तों के विषय में बहुत से प्रामाणिक और महत्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हैं।

तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से सांख्य द्वैतवाद को ही स्वीकार करता है और यह द्वैतवाद इस दर्शन की एक ऐसी मूल विशेषता है जो इसे अन्य भारतीय दर्शनों से पृथक् करती है। सांख्य में प्रकृति तथा पुरुष इन दो मूल तत्वों को अंतिम सत्ताओं के रूप में स्वीकार किया गया है और इन दो तत्वों के आधार पर ही सम्पूर्ण जगत के उद्भव एवं विकास की सविस्तार व्याख्या की गई है। सांख्य के अनुसार सम्पूर्ण विश्व का आविर्भाव तथा विकास प्रकृति और पुरुष इन दो मूल तत्वों के संयोग के परिणामस्वरूप ही होता है, अतः इसमें ईश्वर या किसी अन्य दैवी सत्ता के लिये कोई स्थान नहीं है। सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से युक्त

प्रकृति जड़ या भौतिक, सक्रिय तथा एक है, किन्तु पुरुष चैतन्य, निष्क्रिय एवं अनेक हैं। इन दो परस्पर विरोधी तत्त्वों का संयोग किस प्रकार होता है और इनके संयोग से जगत् की उत्पत्ति कैसे होती है— इन जटिल दार्शनिक प्रश्नों की विवेचना शोध प्रबन्ध की परिधि से बाहर है, अतः यहाँ यह कह देना समुचित एवं प्रयाप्त है कि ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हुये सांख्य ने केवल प्रकृति को विश्व की उत्पत्ति का अंतिम कारण माना है जो जड़, अनादि, अजन्मा तथा नित्य है।

सांख्य के अनीश्वरवाद का प्रारम्भ महर्षि कपिल द्वारा रचित इस दर्शन के मूल ग्रंथ 'सांख्य-सूत्र' से ही हो गया था उन्होंने अपने इस ग्रंथ में अनेक प्रबल तर्कों द्वारा ईश्वरवाद का स्पष्टतः खण्डन किया है। सांख्य सूत्र के प्रथम अध्याय में ही कपिल स्पष्ट रूप से यह घोषित करते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध या अप्रमाणित है। अन्य अनेक भारतीय दार्शनिकों की भाँति वे भी यह मानते हैं कि वाह्य वस्तुओं के साथ ज्ञानेन्द्रियों के सन्निकर्ष के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाला साक्षात् ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। यदि हम ईश्वर का ऐसा साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते तो इससे प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा का खण्डन नहीं होता, क्योंकि कपिल के मतानुसार स्वयं ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध है।

पुनः कपिल का स्पष्ट और निश्चित मत है कि अनुमान के द्वारा भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना संभव नहीं है। क्योंकि ईश्वर विषयक अनुमान के साध्य, ईश्वर तथा उनके हेतु, विश्व में अनिवार्य साहचर्य को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जब हम किसी एक वस्तु 'क' के आधारी पर वस्तु 'ख' के अस्तित्व का अनुमान लगाते हैं तो हमारा यह अनुमान इन दोनों वस्तुओं के उस अनिवार्य साहचर्य पर ही निर्भर रहता है, जिसे हमने प्रत्यक्ष द्वारा इन दोनों वस्तुओं के सम्बन्ध में पहले अनुभव किया है। इस अनिवार्य साहचर्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव में किसी प्रकार का अनुमान संभव नहीं है। स्पष्टतः इसका तात्पर्य यह है कि अनुमान का अंतिम मूल आधार भी प्रत्यक्ष ही है। अनुमान के इस स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कपिल यह कहते हैं कि इसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि विश्व के साथ अभौतिक और अनुभवातीत ईश्वर के अनिवार्य साहचर्य को प्रमाणित करना असंभव है। अतः ईश्वर की सत्ता को न तो प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है और न ही अनुमान द्वारा।<sup>39</sup>

कपिल ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान की भाँति ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये ईश्वरवादियों द्वारा प्रयुक्त शब्द प्रमाण का भी खण्डन किया है। उनका कथन है कि श्रुति सम्बन्धी ग्रंथों में ईश्वर की जो चर्चा की गयी है वह वास्तव में मुक्तात्माओं अथवा इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की प्रशंसा मात्र है। जिन आत्माओं ने मोक्ष प्राप्त कर लिया है उन्हें इन ग्रंथों में 'ईश्वर' कहकर उनकी स्तुति की गयी है। इसी प्रकार देवताओं की स्तुति

## 146 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

करने के लिए उन्हें भी 'ईश्वर' कहकर उनकी प्रशंसा की जाती है। स्पष्टतः कपिल के अनुसार— वेदों, उपनिषदों आदि श्रुति ग्रंथों में ईश्वर की जो चर्चा की गयी है उनका उद्देश्य किसी ऐसी सत्ता का वर्णन करना नहीं है जो विश्व—रचयिता, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है, अपितु 'ईश्वर' शब्द द्वारा मुक्त आत्माओं, देवताओं और सिद्ध पुरुषों अथवा योगियों की प्रशंसा करना ही है।<sup>40</sup>

इसके अतिरिक्त कपिल की मान्यता है कि जिस प्राणी का अस्तित्व है वह या तो स्वतंत्र होता है अथवा पराधीन किन्तु ईश्वर को न तो स्वतंत्र माना जा सकता है और न बंधनों में आबद्ध। अतः जिस रूप में ईश्वरवादी विचारक उसकी कल्पना करते हैं उस रूप में उसका अस्तित्व असिद्ध है। ईश्वर की स्वतंत्रता से कपिल का तात्पर्य यह है कि वह दुःख, राग—द्वेष, इच्छा आदि से पूर्णतः मुक्त है। अब यदि इस अर्थ में ईश्वर को स्वतंत्र माना जाए तो उसके लिए विश्व की रचना सम्बन्धी क्रिया को सम्पन्न करना संभव नहीं है। क्योंकि यदि ईश्वर समस्त इच्छाओं से मुक्त है तो उसमें विश्व की रचना करने की भी इच्छा नहीं हो सकती और इस अच्छा के बिना उसके लिए विश्व की रचना करना असंभव है। इस प्रकार ईश्वर की पूर्णतः अथवा निरपेक्ष रूप से स्वतंत्र मान लेने पर वह कर्ता नहीं रह जाता इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर को ऐसा कर्ता मान लिया जाए जो बंधन में अथवा परतंत्र है— अर्थात् जो किसी अन्य की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म करता है तो उसकी सर्वशक्तिमत्ता समाप्त हो जाती है और वह वास्तविक अर्थ में ईश्वर नहीं रह जाता। अतः कपिल का मत है कि ईश्वरवादी विचारक जिस रूप में ईश्वर को स्वीकार करते हैं उस रूप में उसे निरपेक्षतः स्वतंत्र तथा परतंत्र दोनों ही नहीं माना जा सकता और किसी भी अस्तित्ववान प्राणी के लिये इन दोनों विकल्पों के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है, अतः ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध है।<sup>41</sup>

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि महर्षि कपिल विश्व—रचयिता के साथ—साथ कर्माध्यक्ष तथा विश्व के शासक के रूप में भी ईश्वर को अनावश्यक और व्यर्थ मानते हैं। ईश्वरवादी दार्शनिकों का विचार है कि ईश्वर केवल विश्व का रचयिता ही नहीं, अपितु वह सम्पूर्ण जगत का शासक तथा सभी मनुष्यों को उनके कर्मों का समुचित फल प्रदान करने वाला कर्माध्यक्ष भी है और इस रूप में उसके अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। परन्तु जैन और बौद्ध दार्शनिकों की भाँति कपिल ने भी ईश्वरवादियों के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि— मनुष्यों को उनके कर्मों का फल कर्म के अनिवार्य नियम के कारण स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। अतः इसके लिये कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनावश्यक है। वस्तुतः कर्म का नियम किसी बाह्य शक्ति के मार्गदर्शन के बिना स्वतः ही कार्य करता है, ऐसी स्थिति में उसके लिए

ईश्वर को जगत का नियंता अथवा शासक मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। पुनः कपिल का मत है कि यदि ईश्वर को कर्माध्यक्ष और जगत के शासक के रूप में स्वीकार कर लिया जाए तो उसे नित्य नहीं माना जा सकता। क्योंकि कर्माध्यक्ष तथा विश्व के शासक के रूप में कार्य करने के लिए ईश्वर में आसक्ति एवं इच्छा का होना अनिवार्य है और जिस ईश्वर में भावनाएं तथा इच्छाएं विद्यमान हैं उसके स्वरूप में परिवर्तन होना अनिवार्य है। अतः ऐसे परिवर्तनशील ईश्वर को नित्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर को कर्माध्यक्ष तथा विश्व का शासक मानने के परिणामस्वरूप उसकी नित्यता का खण्डन हो जाता है। हम देख चुके हैं कि ईश्वरवादी दार्शनिक एक ओर ईश्वर को शाश्वत तथा नित्य मानते हैं और दूसरी ओर उसे विश्व रचयिता तथा कर्माध्यक्ष के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु कपिल का मत है कि ईश्वरवादियों की इन दोनों मान्यताओं में परस्पर व्याघात विद्यमान है जो तार्किक दृष्टि से ऐसे ईश्वर का निषेध करता है।<sup>42</sup>

ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के विरुद्ध कपिल के उपरोक्त तर्कों से यही प्रमाणित होता है कि वे उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। परन्तु 'सांख्य-सूत्र' के भाष्यकारों में इस प्रश्न के सम्बन्ध में मतभेद है कि कपिल ईश्वर के अस्तित्व को असिद्ध मानते थे अथवा उसके अस्तित्व का निषेध करते थे। अन्य शब्दों में प्रश्न यह है कि कपिल वास्तव में निरीश्वरवादी थे या नहीं। 'सांख्य-सूत्र-वृत्ति' नामक अपने भाष्य में अनिरुद्ध ने स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि कपिल निरीश्वरवाद में विश्वास करते हुए ईश्वर के विरुद्ध अपने तर्कों द्वारा निश्चित रूप से उसके अस्तित्व का खण्डन किया है। परन्तु सांख्य-सूत्र के दूसरे भाष्यकार, विज्ञानभिक्षु को अनिरुद्ध का यह मत स्वीकार्य नहीं है। अपने ग्रन्थ 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' में विज्ञान भिक्षु ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कपिल वस्तुतः निरीश्वरवादी दार्शनिक नहीं थे। उनकी मान्यता है कि कपिल ने ईश्वर के अस्तित्व का निषेध नहीं किया, अपितु उसे केवल असिद्ध ही माना है। अपने उपर्युक्त मत को उचित सिद्ध करने के लिए विज्ञान भिक्षु ने ईश्वर के विरुद्ध कपिल द्वारा प्रस्तुत तर्कों की ऐसी व्याख्या की है जिनके आधार पर इन तर्कों को निरीश्वरवाद के समर्थन में दिये गये तर्क न माना जा सके। अपने 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' की प्रस्तावना में वे यह स्पष्टतः कहते हैं कि ईश्वर से संबंधित सांख्य के सूत्रों की भाषा कपिल को निरीश्वरवादी दार्शनिक सिद्ध नहीं करती। इन सूत्रों में ईश्वर के विषय में कपिल ने जो कुछ कहा है। उससे केवल यही निष्कर्ष निकलता है। कि ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध है; उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है।<sup>43</sup>

परन्तु कपिल के निरीश्वरवाद के सम्बन्ध में विज्ञान भिक्षु की उपर्युक्त व्याख्या उचित एवं तर्क प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यदि कपिल की

## 148 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

सम्पूर्ण ईश्वर विषयक विवेचना का उद्देश्य उसके अस्तित्व का निषेध करना नहीं था। जैसा कि विज्ञानभिक्षु मानते हैं जो ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप के विरुद्ध उन्हें इतने स्पष्ट निश्चित तथा प्रबल तर्क प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वे केवल इतना कहकर ही संतुष्ट हो सकते थे कि ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध है। परन्तु हम देख चुके हैं कि उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को केवल असिद्ध ही नहीं बताया अपितु उसे स्वीकार करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली विभिन्न तार्किक कठिनाइयों तथा उसके स्वरूप में विद्यमान अनेक गंभीर असंगतियों एवं स्वतोव्याघातों का भी स्पष्ट वर्णन किया है। जिससे यही प्रमाणित होता है कि वे ईश्वर के अस्तित्व तथा स्वरूप दोनों को तर्क-विरुद्ध मानते थे।

संभवतः उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए कालीवर वेदान्त वागीश ने लिखा है— “हमारे विचार में ..... ‘ईश्वर असिद्ध है’ तथा ..... ‘ईश्वर अस्तित्व रहित है’ इन दोनों वाक्यांशों का अर्थ

व्यावहारिक दृष्टि से एक ही है।<sup>44</sup> इसी प्रकार स्वयं ईश्वरवाद के प्रबल समर्थक सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी यह स्वीकार किया है कि विज्ञानभिक्षु द्वारा की गयी सांख्य के ईश्वर विषयक दृष्टिकोण की व्याख्या उचित नहीं है। उनके मतानुसार— “अनेक स्थानों पर विज्ञानभिक्षु सांख्य के विचारों की

वेदान्त के विचारों के साथ संगति स्थापित करने का प्रयास करते हैं।<sup>45</sup> एक अन्य विचारक एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री भी स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि— “सूत्रों की व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु को उनके निरीश्वरवाद का निराकरण करने में बहुत कठिनाई होती है। ..... विज्ञानभिक्षु के तर्क इतने असंगत हैं कि औचित्य अत्यधिक संदेहास्पद हो

जाता है।<sup>46</sup> इस प्रकार स्पष्ट है कि विज्ञान-भिक्षु ने सांख्य के निरीश्वरवाद की जो व्याख्या की है वह ईश्वरवाद के प्रति पूर्वाग्रह से प्रेरित होने के कारण उचित एवं तर्क-संगत प्रतीत नहीं होती।

सांख्य दर्शन का दूसरा प्रामाणित मूल ग्रंथ ईश्वर कृष्ण द्वारा रचित ‘सांख्य-कारिका’ है जिसमें इस दर्शन के मूल सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या की गयी है। कुछ विद्वान दूसरी शताब्दी में लिखित इसी ग्रंथ को

सांख्य दर्शन पर अभी तक उपलब्ध प्राचीनतम मौलिक ग्रंथ मानते हैं।<sup>47</sup> इस ग्रंथ में प्रस्तुत सांख्य के सिद्धान्तों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के लिए गौड़पाद तथा वाचस्पति मिश्र ने इसपर अपने भाष्यों की रचना की है। इन दोनों भाष्यों को इस ग्रंथ के प्रामाणिक भाष्य माना जाता है।

गौड़पाद के अनुसार— “सांख्य-कारिका’ में ईश्वरवादियों के इस मत को स्वीकार नहीं किया गया कि विश्व का आदि कारण ईश्वर ही है। इसके विपरीत जड़ अथवा भौतिक प्रकृति को जगत की उत्पत्ति और उसके विकास का आदि कारण माना गया है। ईश्वर कृष्ण का स्पष्टतः मत



है कि यह सम्पूर्ण जगत् पुरुष के सामनिध्य के परिणामस्वरूप प्रकृति से ही उत्पन्न होता है जिसमें सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं। अन्य शब्दों में विश्व की समस्त भौतिक और अभौतिक वस्तुओं का मूल कारण यह त्रिगुणमयी जड़ प्रकृति ही है। विश्व के इस सम्पूर्ण विकास में ईश्वर की कोई भूमिका नहीं है, क्योंकि प्रकृति ईश्वर के हस्तक्षेप या मार्ग दर्शन के बिना अपने तीनों गुणों के स्वभाव के अनुरूप स्वतः ही कार्य करती है। गौड़पाद का मत है कि सांख्य के अनुसार ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को ऐसी विशुद्ध चैतन्य स्वरूप सत्ता मानते हैं, जो समस्त गुणों से रहित हैं। अतः ऐसा अभौतिक ईश्वर इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण नहीं हो सकता। वस्तुतः कारण और उससे उत्पन्न कार्य में आधारभूत समानता का होना अनिवार्य है जो अभौतिक ईश्वर के स्थान पर जड़ प्रकृति तथा उससे उत्पन्न होने वाले भौतिक जगत् में पायी जाती है। इस प्रकार गौड़पाद की व्याख्या के अनुसार 'सांख्य-कारिका' में त्रिगुणमयी जड़ प्रकृति को ही सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति के मूल कारण के रूप में स्वीकार किया गया है, ईश्वर को नहीं।<sup>48</sup>

वाचस्पति मिश्र का कथन है कि सांख्य ने जिस त्रिगुणमयी जड़ प्रकृति को विश्व का मूल कारण है वह उसकी उत्पत्ति के लिए अपने आप में पर्याप्त कारण है। इसका तात्पर्य यह है कि विश्व की उत्पत्ति के लिए प्रकृति के अतिरिक्त किसी निमित्त कारण को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वयं प्रकृति ही जीवों के मोक्ष के लिए विश्व के विभिन्न तत्त्वों तथा पदार्थों में विकसित होती है। अतः जगत् की उत्पत्ति के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनावश्यक है।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार, अपने उपर्युक्त मत को ईश्वर कृष्ण ने एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार बछड़े के पोषण के लिए गाय के थनों से अचेतन दूध स्वतः ही प्रवाहित होता है, उसी प्रकार जड़ प्रकृति भी जीवों की मुक्ति के लिए इस जगत् को स्वयं ही उत्पन्न करती है। जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जड़ प्रकृति की इस आत्म-निर्भरता को स्पष्ट करने के लिए कपिल के 'सांख्य-सूत्र' में भी यही व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार ईश्वर कृष्ण तथा कपिल ये दोनों सांख्याचार्य यह मानते हैं कि त्रिगुणमयी भौतिक प्रकृति पुरुष के सानिध्य के परिणामस्वरूप जीवों की मुक्ति के लिए स्वतः ही इस जगत् को उत्पन्न सकरती है। अतः इसके निमित्त कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनावश्यक है।<sup>49</sup>

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि गौड़पाद तथा वाचस्पति मिश्र के अनुसार सांख्य ने विश्व की उत्पत्ति के लिए ईश्वर को केवल व्यर्थ और अनावश्यक ही नहीं अपितु विश्व रचयिता के रूप में उसकी अवधारणा

## 150 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

को प्रबल तर्क द्वारा स्वतोव्याघातपूर्ण भी सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में सांख्य का मत है कि ईश्वर को तर्कसंगत रूप से विश्व का रचयिता सिद्ध करना असंभव है, क्योंकि विश्व की रचना के लिए वह किसी अभिप्रेरणा या प्रयोजन द्वारा प्रेरित नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि ईश्वर अपने स्वार्थ के लिए विश्व की रचना नहीं कर सकता क्योंकि स्वयं ईश्वरवादियों के अनुसार वह सभी दृष्टियों से पूर्ण है और उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है तथा उसकी कोई ऐसी इच्छा नहीं हो सकती जिसे वह विश्व रचना द्वारा संतुष्ट करना चाहता हो। ऐसी स्थिति में स्वयं अपने स्वार्थ की सिद्धि विश्व रचना के सम्बन्ध में ईश्वर का प्रयोजन नहीं हो सकता। पुनः ईश्वर दया करुणा से प्रेरित होकर भी विश्व की रचना नहीं करता क्योंकि ईश्वरवादी स्वयं यह मानते हैं कि ईश्वर द्वारा विश्व की रचना से पूर्व ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु और प्राणी का अस्तित्व नहीं था। इसका अर्थ यह है कि उस समय शरीरवान जीव थे ही नहीं जो दुःखी होते औ जिनके प्रति ईश्वर दया करता। ऐसी स्थिति में— अर्थात् विश्व रचना से पूर्व—अस्तित्व—रहित जीवों के प्रति ईश्वर की करुणा का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर ने वास्तव में करुणा से प्रेरित होकर विश्व की रचना करता तो वह केवल आनंदमय संसार की रचना करता, किन्तु यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि इस विश्व में सर्वत्र दुःख व्याप्त है। स्पष्टतः ऐसे दुःख—पूर्ण संसार को करुणामय ईश्वर की रचना नहीं माना जा सकता।

गौड़पाद तथा वाचस्पति मिश्र के अनुसार अपने इस तर्क के द्वारा ईश्वर कृष्ण ने यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर को युक्तिसंगत रूप से विश्व का रचयिता नहीं माना जा सकता, क्योंकि विश्व—रचयिता के रूप में ईश्वर की अवधारणा स्वतोव्याघाती है। इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त माधवाचार्य ने भी विश्व रचयिता के रूप में ईश्वर के विरुद्ध सांख्य के इस तर्क का स्पष्ट उल्लेख किया है।<sup>50</sup>

ईश्वर के विरुद्ध सांख्य के तर्कों के विषय में उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि इस दर्शन के आचार्यों के अनुसार ईश्वरवाद को स्वीकार करने में कम से कम दो गंभीर दार्शनिक कठिनाइयाँ हैं। पहली यह है कि सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों से रहित विशुद्ध चैतन्य स्वरूप, अभौतिक ईश्वर भौतिक विषय के रूप में परिणत नहीं हो सकता। अतः उसे विश्व का उपादान कारण मानना संभव नहीं है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्वयं ईश्वरवादी नैयायिकों ने भी ईश्वर को जगत् के उपादान कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया। सांख्य के अनुसार, ईश्वरवाद की इस दार्शनिक कठिनाई का समाधान यह है कि स्वयं त्रिगुणमयी जड़ प्रकृति ही विश्व का उपादान कारण है। यह प्रकृति ईश्वर की सहायता अथवा उसके मार्ग दर्शन के बिना स्वयं अपने अनिवार्य स्वाभाविक गुणों के परिणामस्वरूप

विश्व के समस्त पदार्थों तथा प्राणियों को उत्पन्न करती है, अतः इसके लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना व्यर्थ और अनावश्यक है।

दूसरी कठिनाई यह है कि ईश्वर को विश्व का रचयिता अथवा उसका निमित्त कारण मानना भी तर्क विरुद्ध है, क्योंकि ऐसा कोई युक्तिसंगत प्रयोजन नहीं बताया जा सकता जिससे प्रेरित होकर ईश्वर इस जगत की रचना करता है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि ईश्वर न तो स्वार्थ सिद्धि से प्रेरित होकर विश्व की रचना कर सकता है और न जीवों के प्रति करुणा से प्रेरित होकर। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि ईश्वरवादी दार्शनिक द्वारा ईश्वर को विश्व का रचयिता या उसका निमित्त कारण स्वीकार करना पूर्णतः अयुक्तिसंगत है। सांख्याचार्यों की मान्यता है कि स्वयं त्रिगुणमयी प्रकृति ही विश्व के रूप में स्वतः विकसित होती है। अतः विश्व का कोई निमित्त कारण मानना अनावश्यक है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सांख्य का उपर्युक्त निरीश्वरवादी सिद्धान्त उसे एक ऐसा वैज्ञानिक दर्शन बना देता है जो विश्व की उत्पत्ति तथा उसके विकास के सम्बन्ध में ईश्वर जैसी किसी अतिप्राकृतिक कारण ही आवश्यकता का पूर्णतः निषेध करता है। सांख्य अभौतिक ईश्वर के स्थान पर केवल भौतिक प्रकृति को ही विश्व की उत्पत्ति का मूल कारण मानता है और उसकी यह मान्यता उसे विज्ञान के अधिक निकट लाती है। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय कहते हैं— "बौद्धिक दर्शन के रूप में सांख्य ने कुछ सकारात्मक सिद्धान्तों का विकास किया था जिन्होंने ईश्वर की स्वीकृति को पूर्णतः अनावश्यक बना दिया।..... विश्व के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को स्वीकार करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। इस दर्शन की महान प्राचीनता पर विचार करते हुए किसी भी अति-प्राकृतिक सिद्धान्त की आवश्यकता को अस्वीकार करने का यह उपाय अवश्य ही अत्यधिक वीरतापूर्ण बौद्धिक साहस का कार्य रहा होगा।..... विश्व दर्शन के इतिहास में सांख्य केवल सुव्यवस्थित निरीश्वरवाद के प्राचीनतम रूप का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता था। अपितु इसका निरीश्वरवाद अनिवार्यतः वैज्ञानिक अथवा कम से कम विज्ञान-समर्थक कारणों से स्पष्टतः

अभिप्रेरित हुआ था।<sup>51</sup> इस प्रकार चट्टोपाध्याय के मतानुसार, केवल भौतिक प्रकृति से ही सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति तथा उसके विकास से सम्बन्धित सिद्धान्त और सुव्यवस्थित निरीश्वरवाद में विश्वास करने के कारण सांख्य को वैज्ञानिक विचारधारा के अधिक निकट माना जा सकता है।

## मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन का मुख्य उद्देश्य वेदों द्वारा प्रतिपादित धर्म तथा यज्ञों से सम्बन्धित कर्मकाण्ड की तर्कसंगत व्याख्या करना ही था। 'मीमांसा' शब्द का अर्थ है तर्कपूर्ण विचार-विमर्श अथवा युक्तिसंगत व्याख्या।

## 152 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

मुख्यतः वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बन्धित होने के कारण इसे 'कर्ममीमांसा' भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इस दर्शन को 'पूर्वमीमांसा' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है, क्योंकि इसका संबंध यज्ञादि कर्मों का वर्णन करने वाले वेदों के पूर्वाद्ध से है। इस प्रकार मीमांसा के लिए प्रयुक्त 'कर्ममीमांसा' तथा 'पूर्वमीमांसा' इन दोनों शब्दों से यह स्पष्ट है कि इस दर्शन का प्रतिपादन वैदिक धर्म और कर्मकाण्ड का तर्कपूर्ण समर्थन करने के लिये ही किया गया था। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों ने वेदों के विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठायी थी, मीमांसाको ने उन सबका युक्तिसंगत उत्तर देने का प्रयास किया है। अतः मीमांसा को पूर्णतः वेद समर्थक दर्शन माना जाता है।

सांख्य और अद्वैत वेदान्त के विपरीत मीमांसा दर्शन न्याय-वैशेषिक की भाँति यथार्थवादी तथा बहुतत्त्ववादी दर्शन है। इसके समर्थक मुख्यतः यथार्थ अनुभव को ज्ञान का आधार मानते हैं और नैयायिकों के समान ही अनेक नित्य द्रव्यों के साथ-साथ जगत् की वास्तविक सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार न्याय वैशेषिक की भाँति मीमांसा में भी परमाणुओं को भौतिक जगत् का उपादन कारण माना गया है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से मीमांसा दर्शन अद्वैतवादी वेदान्त तथा द्वैतवादी सांख्य से बहुत भिन्न है। परन्तु इस भिन्नता के होते हुए भी भौतिकवादी चार्वाक दर्शन को छोड़कर मीमांसा तथा अन्य भारतीय दर्शन में एक आधारभूत समानता यह है कि ये सभी मूलतः आध्यात्मिक दर्शन है। अन्य भारतीय आध्यात्मवादी दर्शनों के समान ही मीमांसा भी नित्य अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता तथा अमरता, कर्मवाद, पुनर्जन्म और मोक्ष सम्बन्धी आध्यात्मिक सिद्धान्तों में पूर्णतः विश्वास करता है। इसके अतिरिक्त यह दर्शन परलोक स्वर्ग तथा नरक के अस्तित्व को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए वेदों में धर्म, यज्ञों तथा उनसे संबंधित कर्मकाण्ड का जो प्रतिपादन किया गया है, उसे विशेष महत्व देता है।

परन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि जैन, बौद्ध, सांख्य इन तीन भारतीय निरीश्वरवादी दर्शनों के समान मीमांसा के इस आध्यात्मवाद का भी ईश्वरवाद के साथ कोई संबंध नहीं है। अर्थात् मीमांसा दर्शन भी अनेक प्रबल तर्कों द्वारा ईश्वरवाद का उसी प्रकार खण्डन करता है जिस प्रकार जैन, बौद्ध और सांख्य ने किया है।

ईश्वर के विरुद्ध मीमांसा के तर्कों पर विचार करने से पूर्व यहाँ इस दर्शन के संबंध में एक भ्रांति का निराकरण कर देना आवश्यक है। कुछ विद्वान मीमांसा को वैदिक धर्म एवं कर्मकाण्ड का प्रबल समर्थक होने के कारण निरीश्वरवादी नहीं मानते। क्योंकि उनके अनुसार वेदों में ईश्वरवादी को स्वीकार किया गया है और जो दर्शन उनमें इतना दृढ़ विश्वास रखता है वह ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन नहीं कर सकता। भारतीय विद्या के प्रसिद्ध विशेषज्ञ एफ० मैक्समूलर ने मीमांसा पर लगाये गये निरीश्वरवाद के आरोप का खण्डन करते हुए कहते हैं— "इस दर्शन के

स्वरूप, वेद के लिये इसके समर्थन, इसके द्वारा किये गये श्रुति के समर्थन तथा सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का निष्ठापूर्वक पालन करने के विषय में इसके आग्रह को देखते हुए जैमिनि के मीमांसा के विरुद्ध निरीश्वरवाद का आरोप बहुत विचित्र प्रतीत होता है। फिर भी प्राचीन और आधुनिक दोनों युगों में यह आरोप लगाया गया है। ..... परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस संबंध में भूल हुई है। ..... इस संसार में जो अन्याय विद्यमान है उसके लिए जैमिनि ईश्वर को उत्तरदायी नहीं बनाना चाहते थे। अतः उन्होंने प्रत्येक वस्तु की व्याख्या कारण-कार्य के आधार पर की और संसार में पायी जाने वाली असमानता को शुभ या अशुभ कर्मों का स्वाभाविक परिणाम माना। यह निश्चित ही निरीश्वरवाद नहीं था। वस्तुतः यह ईश्वर को निर्दयता अथवा अनुचित पक्षपात के उन आरोपों से मुक्त करने का प्रयास था, जो उस पर प्रायः लगाये जाते रहे हैं। ..... यह ईश्वर की बुद्धिमत्ता को उचित सिद्ध करने का एक और प्रयास था। ..... हम इसके विषय में कुछ भी सोचें, इसे निश्चय ही निरीश्वरवाद की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ..... यदि मीमांसको को निरीश्वरवादी कहा जाता था तो इसका अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था कि उन्होंने अपने ढंग से ईश्वर के कार्यों को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास किया था।<sup>52</sup>

परन्तु मीमांसा के विषय में मैक्समूलर का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस दर्शन से संबंधित साहित्य द्वारा इदस मत की पुष्टि नहीं होती। इसके विपरीत मीमांसा दर्शन के सभी मुख्य ग्रंथ स्पष्ट रूप से इस मत का खण्डन करते हैं। मीमांसा को स्पष्टतः निरीश्वरवादी दर्शन मानते हुए ए० वी० कीथ कहते हैं—“वास्तविक मीमांसा के निरीश्वरवाद को ऐसी सर्वसम्मति के साथ प्रस्तुत किया गया है कि इसकी उपेक्षा करना असंभव हो जाता है।<sup>53</sup> मीमांसा के निरीश्वरवाद के सम्बन्ध में अन्य अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों का यही मत है।

मीमांसा वेदों को अपौरुषेय मानता है जिसका तात्पर्य यह है कि उनकी रचना ईश्वर ने भी नहीं की है, क्योंकि वे अनादि अथवा नित्य हैं। इस दर्शन के समर्थकों के मतानुसार वेदों में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे असंदिग्ध रूप से सत्य एवं प्रमाणित हैं। अपनी इसी मान्यता के कारण उन्होंने चार्वाक, जैन तथा बौद्ध इन तीनों नास्तिक दर्शनों की कटु आलोचना की है, जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते। इस प्रकार वेदों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में मीमांसकों तथा इन नास्तिक दर्शनों में तीव्र मतभेद है। परन्तु जहाँ ईश्वर की समस्या का सम्बन्ध है, मीमांसक उपर्युक्त तीनों नास्तिक दर्शनों से सहमत हैं। इनके समान मीमांसक भी जगत के रचयिता तथा कर्माध्यक्ष के रूप में सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और पूर्णतः शुभ ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हुए निरीश्वरवाद को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। वस्तुतः इस निरीश्वरवाद के

## 154 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

तर्कपूर्ण समर्थन के विषय में सभी नास्तिक दर्शनों तथा सांख्य एवं मीमांसा इन दोनों आस्तिक दर्शनों में कोई मतभेद नहीं है। ये सभी भारतीय अनीश्वरवादी दर्शन ईश्वर के अस्तित्व का अनेक प्रबल तर्कों द्वारा स्पष्टतः खण्डन करते हैं।

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक, जैमिनि ने अपने मूल ग्रंथ 'मीमांसा-सूत्र' में कहीं भी ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है, जिससे यही सिद्ध होता है कि वे उसके अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे। उनके पश्चात् मीमांसा सूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी ने अपने विस्तृत 'भाष्य' में ईश्वर की सत्ता को इस आधार पर स्पष्टतः अस्वीकार किया है कि उसके लिए कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। शबर स्वामी के उपरान्त उनके 'भाष्य' पर मीमांसा के जिन परवर्ती आचार्यों ने अपनी टीकाएं लिखी हैं उन्होंने अनेक युक्तियों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। इन मीमांसाचार्यों में कुमारिल तथा प्रभाकर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि कुमारिल तथा प्रभाकर में लगभग सभी दार्शनिक समस्याओं के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं, फिर भी निरीश्वरवाद के विषय में ये दोनों दार्शनिक परस्पर पूर्णतः सहमत हैं। इन दोनों ने ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप और विश्व-रचयिता एवं कर्माध्यक्ष के रूप में उसके विरुद्ध अनेक प्रबल तर्क प्रस्तुत किए हैं।

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'श्लोकवार्तिक' के सोलहवें अध्याय, संबंधाक्षेप-परिहार में कुमारिल ने ईश्वरवाद का सविस्तार तर्कतः खण्डन किया है। उन्होंने मुख्यतः भारतीय ईश्वरवादी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की दो विभिन्न अवधारणाओं के विरुद्ध विस्तृत तर्क प्रस्तुत किया है। ये दो अवधारणाएं हैं बादरायण द्वारा 'ब्रह्म-सूत्र' में प्रतिपादित ईश्वर की अवधारणा और न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा प्रस्तुत ईश्वर की अवधारणा। कुमारिल ने ईश्वर विषयक इन दोनों अवधारणाओं के विरुद्ध व्यावहारिक और गंभीर आपत्तियाँ उठाते हुए तर्कतः यह सिद्ध किया है कि इन दोनों अवधारणाओं में अनेक असंगतियाँ तथा अंतर्विरोध विद्यमान हैं जिनके कारण तार्किक दृष्टि से इनमें से किसी भी अवधारणा का समर्थन करना संभव नहीं है।

चूँकि बादरायण की मान्यता है कि ईश्वर जगत का केवल निमित्त कारण ही नहीं, अपितु उपादान कारण भी है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने जगत को किसी वाह्य सामग्री द्वारा उत्पन्न न करके स्वयं अपने आप से ही उत्पन्न किया है। किन्तु इसके विरुद्ध कुमारिल का मत है कि यदि ईश्वर द्वारा विश्व रचना से पूर्व दिक्, काल, पृथ्वी आदि किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं था तो उस समय स्वयं ईश्वर कहाँ रहता था और फिर ईश्वरवादी यह कैसे जानते हैं कि तब उसका अस्तित्व था? इसके अतिरिक्त उस समय ईश्वर की क्या स्थिति थी और उसका वास्तविक स्वरूप क्या था? उस समय जब किसी मनुष्य का अस्तित्व था ही नहीं तो

ईश्वर को कौन जान सकता थ? और मनुष्यों की उत्पत्ति के पश्चात् उन्हें उसके स्वरूप के संबंध में कौन बता सकता था? किसी भी रूप में ईश्वर संबंधी ज्ञान के बिना हम यह कैसे मान सकते हैं कि विश्व की उत्पत्ति से पूर्व ईश्वर का अस्तित्व था। वस्तुतः ये सब व्यावहारिक प्रश्न उठाकर कुमारिल ने यह सिद्ध किया है कि ईश्वरवादी विचारक विश्व की उत्पत्ति से पूर्व ईश्वर के अस्तित्व को तर्कतः प्रमाणित नहीं कर सकते। अतः वे बिना किसी प्रमाण के उसकी सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। इसी प्रकार, वे ईश्वर के जिस स्वरूप का वर्णन करते हैं उसके लिए वे कोई तर्क या प्रमाण

प्रस्तुत नहीं करते।<sup>54</sup> ईश्वर के विरुद्ध कुमारिल के इन तर्कों से यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार विश्व की उत्पत्ति से पूर्व हमारे लिए उसे संबंध में सार्थकतापूर्वक बात करना संभव नहीं है, क्योंकि हम उसके अस्तित्व तथा स्वरूप दोनों को ही जानने और समझने में नितांत असमर्थ हैं।

पुनः कुमारिल यह आपत्ति उठाते हैं कि ईश्वर को चाहे शरीर-रहित माना जाए अथवा शरीरवान दोनों ही स्थितियों में उसको विश्व का रचयिता मानने में हमारे समक्ष अनेक गंभीर दार्शनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। यदि ईश्वर अशरीरी है तो उसमें विश्व रचना की इच्छा विद्यमान नहीं हो सकती और इस इच्छा के बिना वह विश्व की रचना नहीं कर सकता। वस्तुतः शरीर-रहित ईश्वर द्वारा विश्व की रचना का विचार अवोधगम्य और तर्क विरुद्ध है। इस कठिनाई से बचने के लिए यदि हम ईश्वर को शरीरवान मान लें तो भी उसे विश्व-रचयिता के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि तब प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं ईश्वर के शरीर का निर्माण किन तत्वों के द्वारा हुआ? ईश्वर का शरीर नित्य है अथवा अनित्य? एवं ईश्वर के शरीर का निर्माण किसने किया? इत्यादि। स्पष्टतः ईश्वर को शरीरवान मान लेने के कारण ऐसे अनेक दार्शनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जिनका कोई संतोषप्रद समाधान संभव नहीं है। इस प्रकार इन तर्कों द्वारा कुमारिल ने यह सिद्ध किया है कि न अशरीरी ईश्वर विश्व का रचयिता हो सकता है और न शरीरवान ईश्वर। अतः विश्व रचयिता के रूप में ईश्वर की अवधारणा तर्क विरुद्ध है।<sup>55</sup>

कुमारिल वादरायण के इस तर्क का भी खण्डन करते हैं कि जिस प्रकार मकड़ी किसी वाह्य सामग्री की सहायता के बिना स्वयं अपने भीतर से जाल बुनती है उसी प्रकार ईश्वर ने भी स्वयं अपने आप से इस विश्व का निर्माण किया है। इसके विरुद्ध कुमारिल का मत है कि मकड़ी अपने भीतर से जो जाल बुनती है वह वास्तव में उसके द्वारा खाये गये कीड़ों के रूप में वाह्य सामग्री का परिणाम होता है। अर्थात् मकड़ी के जाले के लिए कीड़ों के रूप में उसके द्वारा खाया गया भोजन अर्थात् वाह्य सामग्री का होना अनिवार्य है। इस प्रकार कुमारिल के विचार में वादरायण के उपर्युक्त उदाहरण द्वारा उनका यह मत सत्य प्रमाणित नहीं होता कि ईश्वर

## 156 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

स्वयं अपने आप में से ही इस विश्व की रचना करता है।<sup>56</sup> इसके अतिरिक्त कुमारिल संसार में विद्यमान अशुभ की समस्या के आधार पर भी करुणामय ईश्वर की सत्ता का खण्डन किया है। कुमारिक का कथन है कि ईश्वरवादी विचारकों ने जगत में पाये जाने वाले व्यापक दुःख के उत्तरदायित्व से ईश्वर को बचाने के लिए जीवों के दुष्कर्मों का जो तर्क दिया है वह उचित एवं विश्वसनीय नहीं है।<sup>57</sup>

पुनः विश्व रचना के संबंध में ईश्वर के प्रयोजन का वर्णन करते हुए वादरायण कहते हैं कि वह लीला अथवा क्रीड़ा के लिए जगत् की रचना करता है।<sup>56</sup> परन्तु उनके इस मत के विरुद्ध कुमारिल का कथन है कि यह ईश्वर की पूर्णता का स्पष्टतः निषेध करता है। यदि ईश्वर लीला या क्रीड़ा द्वारा स्वयं सुख प्राप्त करने के लिए इस जगत की रचना करता है तो इसका अर्थ यही है कि उसमें कोई अभाव था जिसकी पूर्ति के लिए उसने विश्व रचना का यह कार्य किया है। अन्य शब्दों में जगत की रचना करके ईश्वर ने अपनी एक ऐसी इच्छा पूरी की है जो इसकी उत्पत्ति के बिना अपूर्ण रह गयी थी। स्पष्टतः ऐसे अभाव ग्रस्त ईश्वर को पूर्ण नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ईश्वरवादियों की कठिनाई यह है कि ईश्वर द्वारा किये गये विश्व रचना के कार्य को न तो निष्प्रयोजन मान सकते हैं और न ही प्रयोजन युक्त, क्योंकि ये दोनों ही विकल्प उनके अपने सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। इनमें से प्रथम विकल्प द्वारा ईश्वर की बुद्धिमत्ता का खण्डन होता है और दूसरे विकल्प के द्वारा उसकी पूर्णता का। इस प्रकार कुमारिल के मतानुसार विश्व रचयिता के रूप में ईश्वर की अवधारणा को स्वीकार करना अयुक्तिसंगत है।<sup>59</sup>

इसके अतिरिक्त ईश्वरवादी दार्शनिकों विशेषकर शंकर, रामानुज आदि के द्वारा ईश्वर की सत्ता के लिए श्रुतिमूलक प्रमाण को स्वीकार किया गया है किन्तु कुमारिल श्रुतिमूलक प्रमाण का भी स्पष्टतः खण्डन करते हुए कहते हैं कि— “वेदों, महाभारत और पुराणों में पुराणों में ईश्वर को विश्व का रचयिता बताने वाले जो कथन हैं उनका ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझा गया है। वस्तुतः इन कथनों का उद्देश्य ईश्वर को विश्व का रचयिता सिद्ध करना नहीं, अपितु यज्ञों तथा अन्य वैदिक कर्मों की प्रशंसा करना ही है। अतः इन्हें शाब्दिक अर्थ में ग्रहण न करके इस विशेष अर्थ में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर को विश्व का रचयिता बताने वाले वैदिक कथन वस्तुतः यज्ञों की स्तुति के ही द्योतक हैं। इन कथनों द्वारा विश्व-रचयिता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। जो विचारक इन कथनों द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, वे वैदिक यज्ञों की स्तुति से संबंधित इनके प्रतीकात्मक अर्थ को नहीं समझते, जो इनका वास्तविक अर्थ है। इस प्रकार कुमारिल ने उस



श्रुतिमूलक प्रमाण को भी अस्वीकार किया है जो वेदान्त समर्थको के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रबलतम प्रमाण है।<sup>60</sup> परन्तु विश्व रचयिता के रूप में ईश्वर के विरुद्ध कुमारिल का यह तर्क बहुत प्रभावशाली तथा विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वेदो, उपनिषदों, पुराणों और महाभारत में उपलब्ध ईश्वर विषयक कथनों को वास्तव में यज्ञों की स्तुति से संबंधित कथन मानना बहुत कठिन है।

न्याय-वैशेषिक दर्शनों के समर्थक यह मानते हैं कि जीवों के कर्मानुसार उनकी उत्पत्ति के लिए ईश्वर का मार्गदर्शन अथवा नियंत्रण आवश्यक है। किन्तु कुमारिल को उनका यह मत भी स्वीकार्य नहीं है। स्वयं कर्मवाद में विश्वास करने के कारण कुमारिल यह तो मानते हैं कि सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति जीवों के कर्मानुसार ही होता है। इस दृष्टि से सृष्टि के लिए बुद्धिमान व्यक्तियों के मार्गदर्शन से संबंधित सिद्धान्त का वे भी समर्थन करते हैं। परन्तु उनके मतानुसार ऐसे मार्गदर्शन के लिए सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जीवों के कर्म स्वयं ही जगत में पायी जाने वाली भिन्नता को नियंत्रित करते हैं। ईश्वर के बिना कर्मों के इस स्वतः नियंत्रण के लिए ही मीमांसकों ने 'अपूर्व' की कल्पना की है जिसके कारण सभी मनुष्यों को उनके कर्मों का समुचित फल प्राप्त होता है। इस प्रकार अन्य मीमांसकों की भांति कर्मवाद को स्वीकार करते हुए भी कुमारिल जीवों के मार्गदर्शन या नियंत्रण के लिए ईश्वर को अनावश्यक मानते हैं।<sup>61</sup>

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुमारिल ने केवल विश्व रचयिता के रूप में ही नहीं, अपितु वेदों के रचयिता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। शबर स्वामी के मत का अनुसरण करते हुए वे नैयायिकों की इस मान्यता का खण्डन करते हैं कि वेदों का रचयिता कोई मनुष्य न होकर स्वयं ईश्वर ही है। अपने 'भाष्य' में शबर स्वामी शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता के सिद्धान्त का स्पष्टतः प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य अथवा शाश्वत है— अर्थात् इन दोनों में यह संबंध ईश्वर जैसी किसी वाह्य शक्ति द्वारा स्थापित नहीं किया गया है। नैयायिकों के इस मत को स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि शब्द और अर्थ में जो अनिवार्य सम्बन्ध है उसे सर्वप्रथम ईश्वर ने ही स्थापित किया है। इसके विपरीत वास्तविक स्थिति यह है कि शब्द और अर्थ का यह संबंध अनादि तथा नित्य है। शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर शबर ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि वेद अपौरुषेय हैं— अर्थात् उनकी रचना न तो किसी मनुष्य ने की है और न ईश्वर ने। इस प्रकार शबर स्वामी नैयायिकों के मत को अस्वीकार करते हैं कि ईश्वर ही वेदों का रचयिता है।<sup>62</sup>

## 158 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

अपनी पुस्तक 'श्लोकवार्तिक' में कुमारिल ने भी वेदों की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में शबर के उपर्युक्त मत का पूर्णतः समर्थन किया है। वे भी शब्द एवं अर्थ के संबंध को अनादि एवं शाश्वत मानते हुए यह कहते हैं कि ईश्वर अथवा किसी अन्य वाह्य शक्ति ने इन दोनों में इस संबंध को स्थापित नहीं किया है। शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्यता के इसी सिद्धान्त के आधार पर शबर की भाँति कुमारिल भी वेदों को किसी मनुष्य अथवा ईश्वर

द्वारा रचित न मानकर अपौरुषेय ही मानते हैं।<sup>63</sup> इस प्रकार ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध कुमारिल के उपर्युक्त सभी तर्कों को ध्यान में रखते हुए हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों के समान वे भी अनीश्वरवाद का पूर्णतः समर्थन करते हैं।

अनाश्वरवाद के विषय में कुमारिल के मत की विवेचना करने के पश्चात् अब हम संक्षेप में ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध प्रभाकर की कुछ प्रमुख युक्तियों पर विचार प्रस्तुत करेंगे।

कुमारिल की भाँति प्रभाकर ने भी अनेक तर्कों द्वारा विश्व रचयिता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया है। विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रभाकर यह तो स्वीकार करते हैं कि वह सावयव है— अर्थात् उसके बहुत से भाग हैं किन्तु उनके अनुसार इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है कि ईश्वर ने सिंकी विशेष समय पर उसकी रचना की है। इसके विपरीत वे सम्पूर्ण रूप में विश्व को अनादि और अनंत मानते हैं। उनका कथन है कि विभिन्न समयों पर विश्व की कुछ वस्तुएं उत्पन्न होती हैं और कुछ नष्ट हो जाती हैं, किन्तु सम्पूर्ण रूप में विश्व न तो कहीं उत्पन्न होता है और न उसका अंत होता है। यह मानने के लिए हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि किसी विशेष समय पर यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है और किसी विशेष समय पर यह सम्पूर्ण विश्व नष्ट हो जायेगा। हमारा सामान्य अनुभव केवल इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि विभिन्न समयों पर विश्व की कुछ वस्तुओं की उत्पत्ति होती है और कुछ समाप्त हो जाती है, किन्तु सम्पूर्ण रूप में यह विश्व सदा बना रहता है। विश्व के सम्बन्ध में प्रभाकर के इस मत से स्पष्ट है कि वे ईश्वर को उसका रचयिता नहीं मानते।

ईश्वर को जगत का रचयिता मानने के विरुद्ध प्रभाकर का मत है कि समस्त प्राणियों की शरीर की रचना उनके माता-पिता की प्राकृतिक अथवा जैविक क्रिया के परिणामस्वरूप ही होती है ईश्वर द्वारा नहीं। इसी प्रकार विश्व की अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति भी ईश्वर की इच्छा का परिणाम न होकर वस्तुतः विभिन्न प्राकृतिक कारणों का ही परिणाम है। अपने इस सामान्य अनुभव के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भूतकाल में विश्व के समस्त पदार्थों तथा प्राणियों की उत्पत्ति के प्राकृतिक कारण ही रहे हैं और भविष्य में भी उनकी उत्पत्ति के ये कारण ही रहेंगे। ऐसी स्थिति

में ईश्वर को विश्व-रचयिता मानने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। कुमारिल की भांति प्रभाकर ने भी स्पष्ट रूप से यह कहा है कि शरीर, इच्छा तथा प्रयास के अभाव में ईश्वर जगत की रचना नहीं कर सकता। उनकी मान्यता है कि तर्कसंगत रूप से ऐसा कोई प्रयोजन नहीं बताया जा सकता जिसकी पूर्ति के लिए ईश्वर ने विश्व की रचना की है।

इसके अतिरिक्त प्रभाकर ने ईश्वर के समर्थन में न्याय-वैशेषिक द्वारा दी गयी नीतिपरक युक्ति का भी खण्डन किया है। प्रभाकर का मत है कि ऋर्म-अधर्म तथा ईश्वर में किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। इनमें संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि धर्म-अधर्म गुण है जिनका ईश्वर नामक द्रव्य से यह सम्बन्ध सम्भव नहीं है। पुनः इनमें समवाय-सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ कर्म करने वाले मनुष्यों में ही विद्यमान रहते हैं, ईश्वर में नहीं। वस्तुतः ईश्वर का धर्म-अधर्म के साथ कोई सम्बन्ध न हो सकने के कारण वह उन्हें अपने किसी कार्य के द्वारा प्रभावित एवं नियंत्रित करने में असमर्थ है। अतः ईश्वर के लिए मनुष्यों के धर्म-अधर्म का नियंत्रण अथवा मार्गदर्शन करना सम्भव नहीं है, फलस्वरूप कर्माध्यक्ष के रूप में उसके अस्तित्व के समर्थन में न्याय-वैशेषिक द्वारा प्रस्तुत की गई नीतिपरक युक्ति को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।<sup>64</sup>

पुनः शबर का अनुसरण करते हुए प्रभाकर भी कुमारिल की भांति यह मानते हैं कि शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य अथवा शाश्वत है—अर्थात् इन दोनों का यह सम्बन्ध अनादि तथा अनन्त है और इसे ईश्वर या मनुष्य ने स्थापित नहीं किया। अतः प्रभाकर भी वेदों को अपौरुषेय एवं स्वतः प्रामाण्य मानते हुए ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं।<sup>65</sup>

मीमांसा दर्शन के अनीश्वरवाद की विवेचना करते हुए जैमिनि, शबर, कुमारिल तथा प्रभाकर के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि इस दर्शन के सभी प्रमुख आचार्य विश्व-रचयिता और कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करते हैं। परन्तु यहाद् यह उल्लेखनीय है कि मीमांसा के इस निरीश्वरवाद की उपेक्षा करते हुए इस दर्शन के कुछ परवर्ती आचार्यों ने इसे ईश्वरवादी दर्शन सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन आचार्यों में लौगाक्षि-भाष्कर, वेदांत देशिक, आपदेव आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये परवर्ती मीमांसक स्वयं ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं और उनका विचार है कि मीमांसा वास्तव में ईश्वरवादी दर्शन है। उदाहरणार्थ—अपने ग्रंथ 'अर्थसंग्रह' में लौगाक्षि भाष्कर ने ईश्वर के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। इस ग्रंथ के उपसंहार में वे यह कहते हैं कि मनुष्य अपने समस्त धर्म निष्काम भाव से ईश्वर को समर्पित करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अपने इस मत को उन्होंने 'भगवद्गीता' के आधार पर सत्य एवं प्रामाणिक सिद्ध

## 160 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

करने का प्रयास किया है।<sup>66</sup> लौगाक्षि भाष्कर के इस मत से स्पष्ट है कि वे भगवद्गीता के निष्काम कर्म सिद्धान्त और ईश्वरवाद दोनों में विश्वास करते हुए यह मानते हैं कि मीमांसा दर्शन भी इन दोनों सिद्धान्तों को स्वीकार करता है।

किन्तु मीमांसा के विषय में लौगाक्षि भाष्कर का उपर्युक्त मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस दर्शन में निष्काम-धर्म-सिद्धान्त तथा ईश्वरवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः मीमांसा के किसी प्रमुख आचार्य ने इस सिद्धान्तों का समर्थन नहीं किया है। इसी तथ्य की व्याख्या करते हुए ए०वी० गजेन्द्रगडकर ने लिखा है—“निष्काम कर्म का सिद्धान्त वास्तव में मीमांसा का अपना सिद्धान्त नहीं है। मीमांसा निष्काम कर्म में विश्वास नहीं करता।..... मीमांसा को यह विचार भी मान्य नहीं है कि ऐसे ईश्वर की सत्ता है जो अग्नि इन्द्र आदि यज्ञ के देवताओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट तथा उनसे भिन्न है, जिसे कर्म का समर्पण किया जाना चाहिए और जो हमारे निष्काम कर्म के द्वारा प्रसन्न होकर हमें मोक्ष प्रदान करेगा। समस्त कर्म ईश्वर को समर्पित करने से सम्बन्धित यह कथन भगवद्गीता के दर्शन के प्रभाव का स्पष्ट द्योतक है।<sup>67</sup> इस प्रकार लौगाक्षि भाष्कर ने मीमांसा दर्शन में ईश्वरवाद को समाविष्ट करने का जो प्रयास किया है वह निश्चय ही इस दर्शन के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध है। यही बात वेदान्त देशिक के विषय में भी कही जा सकती है जिन्होंने मीमांसा को ईश्वरवादी दर्शन सिद्ध करने के लिए ‘शेश्वर मीमांसा’ नामक अपना ग्रंथ लिखा है। वस्तुतः ये परवर्ती मीमांसक स्वयं ईश्वरवादी दार्शनिकों के विचारों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण मीमांसा में भी ईश्वर को खोजने का प्रयास करते हैं जो इस दर्शन में है ही नहीं।

किन्तु डा० राधाकृष्णन ने परवर्ती मीमांसकों द्वारा मीमांसा में ईश्वरवाद के समावेश को इस दर्शन में सुधार करने की दृष्टि से देखा है। मीमांसा में ईश्वर के अभाव का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि — “पूर्वमीमांसा की यह कमी इतनी असंतोषप्रद थी कि परवर्ती लेखकों ने इसमें धीरे से चुपचाप ईश्वर का समावेश कर दिया। इस आलोचना के महत्व को समझ लिया गया कि अचेतन अपूर्व का सिद्धान्त यह सामंजस्यपूर्ण परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकता जो इसे सौंपे गये हैं..... बहुत पहले इस बात को समझ लिया गया था कि यदि मीमांसा दर्शन अपने आप को ईश्वरवाद के साथ सम्बद्ध नहीं करता तो वह विचारशील व्यक्तियों को संतुष्ट नहीं कर सकेगा।..... इसलिए आपदेव और लौगाक्षि भाष्कर यह घोषित करते हैं कि यदि ईश्वर के सम्मान में यज्ञ किया जाय तो वह परम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष का साधन बनेगा। वेदान्त देशिक के ‘शेश्वर मीमांसा’ में इस प्रवृत्ति का अधिकतम विकास हुआ है।<sup>68</sup> राधाकृष्णन के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट

है कि स्वयं ईश्वरवादी दार्शनिक होने के कारण वे परवर्ती मीमांसकों द्वारा मीमांसा दर्शन में ईश्वरवाद के समावेश का स्वागत करते हैं। परन्तु मूलतः निरीश्वरवादी मीमांसा में ईश्वरवाद का समावेश करना इस दर्शन के मूल और वास्तविक स्वरूप के विरुद्ध कार्य करना है। अतः इसे उचित नहीं माना जा सकता।

पुनः यहाँ वैदिक देवताओं के विषय में भी मीमांसकों का मत उल्लेखनीय है। 'मीमांसा-सूत्र' पर लिखित अपने 'भाष्य' में शबर ने स्पष्ट कहा है कि वैदिक देवताओं के जो नाम दिये गये हैं वे केवल शब्द मात्र हैं; मंत्रों में प्रयुक्त इन शब्दों से पृथक देवताओं का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। कुमारिल तथा प्रभाकर भी शबर के इस मत का पूर्णतः समर्थन करते हैं। इस प्रकार मीमांसक वैदिक देवताओं को वास्तविक देवता न मानकर उनकी केवल मंत्रात्मक सत्ता ही स्वीकार करते हैं जिसका अर्थ यही है कि इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवताओं के नाम ध्वनियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अन्य शब्दों में इन वैदिक देवताओं की सत्ता यथार्थ न होकर केवल काल्पनिक ही है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि मीमांसकों के विचार में इन वैदिक देवताओं का यज्ञों में प्रयुक्त मंत्रों से पृथक एवं स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है तो ये मनुष्यों की पूजा या उपासना के विषय कैसे हो सकते हैं और उन्हें उनके कर्मों का फल किस प्रकार प्रदान कर सकते हैं। इसके प्रतिउत्तर में मीमांसा दर्शन के आचार्यों का स्पष्ट कथन है कि वैदिक देवता न तो मनुष्यों की पूजा के विषय हैं और न वे उन्हें उनके कर्मों का फल ही प्रदान करते हैं। वस्तुतः मनुष्यों को उनके कर्मों का फल इन कर्मों से उत्पन्न 'अपूर्व' नामक एक अदृश्य शक्ति के माध्यम से प्राप्त होता है। यह अपूर्व ही स्वर्ग की कामना से प्रेरित होकर यज्ञ करने वाले व्यक्तियों को उचित समय पर स्वर्ग की प्राप्ति कराता है। ईश्वर, देवता या कोई अन्य वाह्य शक्ति इस अपूर्व का नियंत्रण अथवा मार्गदर्शन नहीं करती, क्योंकि यह अपना कार्य स्वयं ही करता है। इस प्रकार मीमांसकों के मतानुसार मनुष्य को उसके कर्मों का फल प्रदान करने में ईश्वर तथा वैदिक देवताओं की कोई भूमिका नहीं है।

वैदिक देवताओं के विषय में मीमांसकों के उपर्युक्त मत की व्याख्या करते हुए देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय कहते हैं कि —“मीमांसा-सूत्र” पर उपलब्ध अपने सबसे पहले 'भाष्य' में ही शबर ने यह प्रश्न उठाया था, 'क्या वैदिक देवताओं का मानवीय भाग्य अथवा..... यज्ञ विषयक कर्मों तथा उनके परिणामों के साथ कोई सम्बन्ध है ? वस्तुतः उनका प्रश्न इसकी अपेक्षा कहीं अधिक क्रांतिकारी था, क्योंकि वे इन देवताओं की सत्तात्मक स्थिति के विषय में निर्णय करना चाहते थे।..... जिन कारणों के आधार पर इन देवताओं की स्थायी सत्ता को स्वीकार किया जा सकता था उन सबकी समीक्षा करके स्वयं संतुष्ट हो जाने के पश्चात् वे इसी परिणाम पर

## 162 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

पहुँचे कि इनका वास्तविक अर्थ में अस्तित्व नहीं है।..... वैदिक देवताओं की एक मात्र सत्ता विशुद्ध रूप से शाब्दिक ही है। शबर के सुविचारित निर्णय के अनुसार अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि दिव्य प्राणी बिल्कुल नहीं हैं। इसके स्थान पर वे केवल शब्द हैं।..... इन देवताओं का वास्तविक अस्तित्व न होने के कारण ये कोई भेंट स्वीकार नहीं कर सकते।..... इस प्रकार इनका अनुग्रह प्राप्त करने का प्रयास निरर्थक कर्म है।<sup>69</sup>

इस प्रकार मीमांसा दर्शन के इस विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि यह मूलतः अनीश्वरवादी दर्शन है। क्योंकि इसके आचार्य एकेश्वरवाद के साथ-साथ वैदिक युग में प्रचलित बहुदेववाद का भी खण्डन किया है।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देखिये 'ऋग्वेद' मण्डल 1, अनुवाक 5 सूक्त 2-3
2. देखिये 'ऋग्वेद' मण्डल 4, अनुवाक 4 सूक्त 5
3. देखिये 'ऋग्वेद' मण्डल 7, अनुवाक 64 सूक्त 2
4. देखिये 'ऋग्वेद' मण्डल 6, अनुवाक 13 सूक्त 2
5. देखिये 'ऋग्वेद' मण्डल 4, अनुवाक 23 सूक्त 9
6. देखिये 'ऋग्वेद' मण्डल 1, अनुवाक 164 सूक्त 46
7. देखिये-मेक्सर मूलर- 'लेक्चर्स ऑन दि ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ रिलिजन्स' पृ0-303
8. देखिये 'ऋग्वेद' 10, 129
9. देखिये 'ऋग्वेद' 1, 164
10. 'ऋग्वेद' 10, 81, 4
11. देखिये- छांदोग्य उपनिषद; अध्याय 6, श्लोक 2
12. देखिये- छांदोग्य उपनिषद; अध्याय 6, श्लोक 4-5
13. देखिये- छांदोग्य उपनिषद; अध्याय 6, श्लोक 5
14. देखिये- छांदोग्य उपनिषद; अध्याय 2, श्लोक 1-3
15. देखिये- छांदोग्य उपनिषद; अध्याय 1, श्लोक 2
16. बाल्डविन, "डिक्शनरी ऑफ फिलॉसॉफी एण्ड साइकॉलॉजी" खण्ड 2, पृ0-45
18. ओ0 कुल्पे 'इण्ट्रोडक्शन टू फिलॉसॉफी', पृ0-117
19. एफ0 आर0 टेनेण्ट- ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड-8, पृ0-488
20. अर्नन मकमुलिन- ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसॉफी, खण्ड-5, पृ0-279, 80
21. देखिये- प्रभाचन्द्र, 'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड', पृ0-270
22. देखिये- हरिभद्र सूरी 'षड् दर्शन- समुच्चय' अध्याय-3

23. देखिये— गुणरत्न, 'तर्क—रहस्य—दीपिका', पृ0—117—118
24. देखिये— वही, पृ0—118
25. वही, पृ0—118
26. वही, पृ0—118
- 27.
28. प्रभाचंद्र, 'प्रमेय—कमल—मार्तंड', पृ0—281
29. गुणरत्न, 'तर्क—रहस्य—दीपिका', पृ0—122
30. माधवाचार्य, 'सर्व—दर्शन—संग्रह'— अध्याय—3
31. मल्लीसेन सूरी—'स्याद्वाद मंजरी' , पृ0—29—36
32. वी0पी0वर्मा— 'भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद' पृ0—184, 'माज्झिम निकाय', 63
33. अश्वघोष 'बुद्ध चरित'— भाग—3, सर्ग—18, श्लोक—18—29, पृ0—31—33
34. शांतिदेव 'बोधिचर्यावतार' अध्याय—9, श्लोक—119—126
35. राधाकृष्णन, 'इण्डियन फिलॉसॉफी' खण्ड—1, पृ0—543—546
36. वैली पूसीन, 'ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स'— खण्ड—2, पृ0—183
37. के0सी0 भट्टाचार्या— स्टडीज इन फिलॉसॉफी, खण्ड—1, पृ0—27
38. डी0पी0 चट्टोपाध्याय— इण्डियन एथीज्म, ए मार्क्सिस्ट एनालिसिस, पृ0—69,73, कलकत्ता—1969
39. द्रष्टव्य—कपिल— 'सांख्य सूत्र', अध्याय—1, सूत्र—92, अध्याय—5, सूत्र—10—11
40. द्रष्टव्य— वही— अध्याय—1, सूत्र—95, अध्याय—5, सूत्र—12
41. द्रष्टव्य— वही— अध्याय—1, सूत्र—93—94
42. वही, अध्याय—5, सूत्र—2—7, अध्याय—5, सूत्र—126—127
43. द्रष्टव्य—विज्ञान भिक्षु—'सांख्य—प्रवचन—भाष्य की प्रस्तावना।
44. कालीवर वेदांत वागीश, 'सांख्य—दर्शनम', पृ0—222
45. देखिये— राधाकृष्णन— 'इण्डियन फिलॉसॉफी, खण्ड—2, पृ0—319, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
46. देखिये, एस0एस0 सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा अंग्रेजी में अनुदित तथा संपादित 'सांख्य—कारिका', पृ0—20
47. देखिये, एस0एन0 दास गुप्त, 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी' खण्ड—1, पृ0—212; डी0पी0 चट्टोपाध्याय 'इण्डियन एथिज्म—ए मार्क्सिस्ट एनालिसिस', पृ0—73
48. देखिये, 'सांख्य—कारिका' पर गौड़पाद का 'भाष्य', पृ0—61
49. देखिये, 'ईश्वर कृष्ण'— 'सांख्य—कारिका' कारिकाएं—31, 56—57
50. द्रष्टव्य—'माधवाचार्य— 'सर्व—दर्शन—संग्रह', पृ0—120, विद्याभवन चौखम्भा, वाराणसी।

## 164 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

51. डी०पी० चट्टोपाध्याय 'इण्डियन एथिइज्म-ए मार्क्सिस्ट ऐनालिसिस', पृ०-81, कलकत्ता 1969
52. एफ कैक्समूलर, 'कलेक्टिव वर्क्स', खण्ड-19, पृ०-210-212, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।
53. ए०बी०कीथ, 'कर्म-मीमांसा', पृ०-60
54. गंगानाथ झा द्वारा अंग्रेजी में अनुदित एवं सम्पादित कुमारिल भट्ट का 'श्लोक वार्तिक'- अध्याय-16, संबंधाक्षेप-परिहार, श्लोक-45-46, पृ०-356, बड़ौदा, 1933
55. वही, श्लोक, 47-49, पृ०-356
56. वही, श्लोक-51, पृ०-356
57. वही, श्लोक-49-50 एवं 52-53, पृ०-356
58. वादरायण, 'ब्रह्म-सूत्र', 2, 1, 33
59. गंगानाथ झा द्वारा सम्पादित कुमारिल का 'श्लोक वार्तिक', श्लोक-55-56, पृ०-357
60. वही, श्लोक-61-64, पृ०-358
61. वही, श्लोक, 74776, पृ०-360
62. देखिए- शबर स्वामी का 'भाष्य' सूत्र-1, 1, 5 एवं 1, 1, 27
63. कुमारिल का 'श्लोक वार्तिक', श्लोक-41
64. गंगानाथ झा- 'दि प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्वमीमांसा', पृ०-85-87
65. प्रभाकर मिश्र 'वृहति', पृ०-174, भाग-1, सं०-रामनाथ शास्त्री, मद्रास वि० वि० 1934-35, शालिक नाथ मिश्र-'प्रकरण पंचिका', पृ०-52-137, सं०- मुकुन्द शास्त्री, चौखम्भा वाराणसी 1903
66. लौगाक्षि भाष्कर-'अर्थ संग्रह' संपादक, ए० वी० गजेन्द्रगडकर एवं आर० डी० करमरकर, पृ०-69, पूना, 1932
67. वही, पृ०-224
68. राधाकृष्णन-'इण्डियन फिलॉसॉफी' खण्ड-2, पृ०-427-28, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
69. डी० पी० चट्टोपाध्याय-'इण्डियन एथिइज्म' - 'ए मार्क्सिस्ट ऐनालिसिस', पृ०-210, कलकत्ता-1969



## अध्याय-6 : ईश्वर की प्रासंगिकता

पूर्वगामी अध्यायों में हमने ईश्वर के सम्बन्ध में उन मतों का विवेचन किया है जो कि या तो ईश्वर को वास्तविक मानकर विभिन्न युक्तियों के द्वारा उसके अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं एवं ईश्वर की सत्ता के आधार पर ही जीवन एवं जगत् के सभी पक्षों को समझाने की चेष्टा करते हैं। अथवा ईश्वर को काल्पनिक, मिथ्या, मानवीय जीवन—जगत् के लिए अबोधगम्य, अयुक्तिसंगत, अनुपयोगी एवं निरर्थक मानते हुए उसके अस्तित्व का खण्डन करते हैं। ईश्वरवाद एवं अनीश्वरवाद के निहितार्थों के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विचार करने के उपरान्त प्रस्तुत अध्याय में हम उपर्युक्त प्रतिक्रियाओं की समीक्षा करते हुए इनकी सापेक्षिक योग्यताओं को निर्धारित करने का प्रयास करेंगे और इसी के साथ—साथ हम इस बिन्दु पर भी विचार करेंगे कि ईश्वर के प्रति मनुष्य की क्या समीचीन दृष्टि होनी चाहिए।

हम देख चुके हैं कि ईश्वर के अस्तित्व का विचार केवल अमूर्त सैद्धान्तिक प्रत्यय नहीं है; इसका मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन पर बहुत गहरा तथा व्यापक प्रभाव पड़ता है। अपनी कुछ अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जब से मनुष्य ने ईश्वर—विचार को जन्म दिया है तभी से यह विचार उसके सम्पूर्ण जीवन को किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित करता रहा है। ब्रह्माण्ड की रचना और इसके विकास, इसमें अपने आविर्भाव तथा स्थान, नैतिक आचरण, अपने जीवन के चरम लक्ष्य आदि महत्वपूर्ण विषयों से सम्बन्धित मनुष्य के समस्त विश्वास प्राचीन काल से ही ईश्वर—विचार द्वारा शासित एवं निर्धारित होते रहे हैं। मरणोत्तर जीवन, स्वर्ग—नरक आदि मनुष्य की धार्मिक कल्पनाएं भी मुख्यतः इसी विचार पर आधारित रही हैं।

ईश्वरवादी दार्शनिकों के लिए ईश्वर के अस्तित्व का सबसे मुख्य अर्थ यह है कि ईश्वर की सत्ता में उन्हें एक ऐसा मानक मिल जाता है जिसके अनुरूप वे अपने जीवन का अर्थ निर्धारित कर सकते हैं और क्योंकि ईश्वर की सत्ता के रूप में यह मानक पूर्वनिर्धारित रूप से प्राप्त हो जाता है, इसलिए न तो उन्हें मानक की तलाश के लिए कोई प्रयत्न करना पड़ता है और न ही उस मानक की वैधता के सन्दर्भ में उनके मन में किसी प्रकार की दुविधा होती है। संक्षेप में ईश्वरवादियों के लिए एक बार ईश्वर के अस्तित्व को मान लेने के बाद जीवन जीना अत्यन्त आसान हो जाता है। उदाहरणार्थ—लाइबनिट्ज का यह विश्वास था कि यह जगत् सर्वोत्तम जगत् है क्योंकि यह ईश्वर की कृति है। ईश्वर ने जब संसार की रचना की तो उसी के साथ उसने संसार के नियमों को भी निर्धारित कर दिया। पूर्वस्थापित सामंजस्य का यही अर्थ है। प्रत्येक चिद्—बिन्दु अर्थात् मनुष्य ईश्वर द्वारा पूर्व स्थापित नियमों के अनुसार कार्य करता है और इसलिए

संसार में जो भी शुभ, सुन्दर और उदात्त है वह सब ईश्वर के विधान के नाते ही है। मनुष्य तो उसी विधान का अनुसरण करता है। इसी प्रकार लाइबनिट्ज के दर्शन से महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर भिन्न होते हुए भी हेगेल के दर्शन में भी हम एक प्रागनुभविक द्वन्द्व न्याय पाते हैं और सम्पूर्ण मानव जीवन उसी द्वन्द्व न्याय की एक अभिव्यक्ति मात्र है। इस प्रकार ईश्वरवादी दार्शनिक व्यवस्थाओं में स्वतः व्यक्ति के लिए किसी प्रकार के पहल करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि उसके सारे क्रिया-कलाप एक प्रागनुभविक तथा तार्किक नियम के द्वारा निर्धारित होते हैं।

ईश्वरवादी दार्शनिकों की मान्यता है कि ईश्वर विषयक विश्वास ही नैतिकता का मूल आधार है क्योंकि उसने ही इस विश्व में नैतिक व्यवस्था स्थापित की है और वही समस्त नैतिक मूल्यों, आदर्शों तथा नियमों का एक मात्र उद्गम स्रोत है। समाज में आचरण के लिए जो नैतिक नियम प्रचलित हैं वे सब मूलतः ईश्वर की इच्छा अथवा आदेश पर ही आधारित हैं। अपनी इसी मान्यता के कारण ईश्वरवादी विचारक निश्चित रूप से यह मानते हैं कि जो व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता वह नैतिक नियमों का पालन करने के लिए भी अपने आप को बाध्य नहीं समझेगा। अतः ईश्वर विषयक विश्वास के बिना नैतिकता की कोई सार्थकता नहीं हो सकती।

परन्तु अनीश्वरवादियों का कहना है कि ईश्वर-विचार एवं नैतिकता से सम्बन्धित उपर्युक्त परम्परागत दृष्टिकोण समीचीन तथा युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि वस्तुतः नैतिकता का किसी अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः नैतिकता के स्वरूप, उद्गम तथा उद्देश्य पर यथार्थवादी दृष्टि से यह परिलक्षित होता है कि वह एक मानव निर्मित सामाजिक संस्था है जिसे समाज ने स्वयं अपने कल्याण और विकास के लिए जन्म दिया है। नैतिकता कुछ ऐसे रीति-रिवाजों, मूल्यों, आदर्शों एवं नियमों का नाम है जिसका उद्देश्य समाज में रहने वाली मनुष्यों के आचरण तथा चरित्र का मूल्यांकन, मार्गदर्शन एवं नियमन करना और व्यक्ति तथा समाज के कल्याणार्थ उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करना है। इस अर्थ में नैतिकता का उद्गम समाज में व्यवस्था, सुरक्षा एवं शांति बनाये रखने के लिए हुआ है और सामाजिक प्राणी के रूप में ही मनुष्य के लिए उसकी सार्थकता है।

अनीश्वरवादी मानते हैं कि सामाजिक प्राणी होने के कारण स्वयं मनुष्य ने ही नैतिकता को जन्म दिया है; ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक शक्ति ने नहीं। उदाहरणार्थ—जब हम अपने दैनिक जीवन में किसी व्यक्ति के चरित्र अथवा आचरण का मूल्यांकन करते हैं तो निश्चय ही हम इस प्रश्न पर विचार नहीं करते कि वह व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करता है अथवा नहीं। इसके विपरीत हम उस व्यक्ति के कर्म की मूल अभिप्रेरणा अथवा उसके अच्छे-बुरे परिणामों के आधार पर ही उसके

## 168 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

कर्म का मूल्यांकन करते हैं और हमारे इस नैतिक मूल्यांकन में ईश्वर विषयक विश्वास की कोई भूमिका नहीं होती। इससे यही प्रमाणित होता है कि ईश्वर विषयक विश्वास का वास्तव में नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अनीश्वरवादियों की मान्यता है कि ईश्वर की सत्ता और उसके विशेष स्वरूप को प्रमाणित करने के लिए अभी तक जो युक्तियाँ दी गयी हैं वे सभी दोषपूर्ण होने के कारण अत्यन्त दुर्बल तथा अविश्वसनीय सिद्ध हुयी हैं। इन युक्तियों द्वारा कोई भी ईश्वरवादी दार्शनिक निर्विवाद रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में सफल नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में धर्मशास्त्रीय नैतिक सिद्धान्त का मूल आधार ही समाप्त हो जाता हो जाता है। अतः यदि ईश्वर की सत्ता ही संदिग्ध तथा विवादस्पद है तो उसकी इच्छा अथवा आज्ञा के आधार पर नैतिक निर्णयों की व्याख्या का सम्पूर्ण प्रयास स्वतः निरर्थक हो जाता है।

परन्तु यदि उपर्युक्त आधारभूत कठिनाई पर ध्यान न देते हुए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाए तथा उसे ही समस्त नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का स्रोत तथा संरक्षक मान लिया जाए तो भी ईश्वरवादी दार्शनिकों के समक्ष ऐसे जटिल प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका वे कोई संतोषप्रद और तर्कसंगत उत्तर नहीं दे पाते। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि हमें ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है और इस ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार क्या है? यदि इस सम्बन्ध में दो या दो से अधिक व्यक्तियों के परस्पर विरोधी विचार हो तो क्या इस तीव्र मतभेद का निराकरण करने के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय और तर्कसंगत आधार है ? फिर यदि हम ईश्वर की इच्छा को ठीक-ठीक जान लें तो भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि हमें उसकी इच्छा के अनुसार आचरण क्यों करना चाहिए ? क्या ऐसी वाह्य अभिप्रेरणाओं पर आधारित नैतिकता को वास्तव में 'नैतिकता' की संज्ञा दी जा सकती है ?

स्पष्टतः ईश्वरवादी दार्शनिकों ने उपर्युक्त महत्वपूर्ण प्रश्नों का कोई संतोषजनक और युक्तिसंगत उत्तर नहीं दे पाते। ईश्वरवादियों के मतानुसार ईश्वर की इच्छा को हम श्रुति के माध्यम से ही जान सकते हैं जो उसकी कृपा के फलस्वरूप कुछ महान संतों को प्राप्त होती है। परन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि इस श्रुति की प्रामाणिकता के विषय में निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। जीवन और जगत् के विषय में ये महान संत जो विचार व्यक्त करते हैं वे उनके अपने व्यक्तिगत विचार हैं अथवा श्रुति के माध्यम से प्राप्त ईश्वर के विचार, इस बात का निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय उपाय या विधि नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह जानना असम्भव हो जाता है कि किसी कार्य के विषय में ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा क्या है ? यदि हम ईश्वर की इच्छा को जान ही नहीं सकते तो उसके अनुरूप आचरण करने तथा उसके आधार पर शुभ-अशुभ का निर्णय करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

किन्तु यदि हम इस गम्भीर कठिनाई की उपेक्षा करते हुए यह मान लें कि हम ईश्वर की इच्छा को ठीक-ठीक जान सकते हैं तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि हमें अनिवार्यतः उसकी इच्छा के अनुसार आचरण करना चाहिए, क्योंकि अधिकतर दार्शनिकों की मान्यता है कि सच्ची नैतिकता वही है जिसका अन्तिम आधार कोई वाह्य शक्ति न होकर मनुष्य का अपना अन्तर्विवेक ही है। अतः ईश्वरवाद नैतिकता को ईश्वर पर आधारित मानकर उसके विषय में इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करता है जो वास्तव में नैतिकता का मूल स्रोत है।

वस्तुतः प्राचीन काल में अज्ञान एवं शारीरिक दुर्बुलाताओं के फलस्वरूप उत्पन्न अपनी असहाय अवस्था के कारण ही मनुष्य ने ईश्वर के विचार की कल्पना की और तभी से वह इस कल्पित ईश्वर के प्रति स्वयं अपने आपको पूर्णरूपेण समर्पित किया है। उसने अपने समस्त सद्गुणों को ईश्वर में आरोपित करते हुए इस स्वनिर्मित कल्पित-महान-ईश्वर की तुलना में अपने आपको सभी दृष्टियों से असहाय, नगण्य, पतित एवं निकृष्ट मानता है तथा पूर्ण रूप से ईश्वर पर निर्भर हो जाता है, ताकि वह अपने स्वतंत्र-उत्तरदायित्व से बच सके एवं उसे अपने जीवन में ईश्वर की कृपा प्राप्त हो सके। इस प्रकार शताब्दियों से मनुष्य तथा ईश्वर में यही समर्पण सम्बन्ध रहा है।

अनीश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर के प्रति मनुष्य का उपर्युक्त परावलम्बी दृष्टिकोण स्वयं मनुष्य के लिए बहुत हानिकारक है क्योंकि यह उसे अपने जीवन में सदैव पराश्रित एवं पंगु बनाये रखता है। फलस्वरूप मनुष्य का आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है और वह अपनी समस्त जटिल समस्याओं के समाधान के लिए सदा अपने कल्पित ईश्वर की सहायता की यचना करने लगता है। वह यह भूल जाता है कि अपनी सफलताओं तथा असफलताओं के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है तथा अपनी समस्त समस्याओं का समाधान उसे स्वयं करना है।

वैज्ञानिक विचारधारा से प्रभावित अनीश्वरवादी दार्शनिकों की मान्यता है कि ईश्वर की रहस्यात्मक सत्ता को स्वीकार करने के कारण ज्ञान, नैतिकता तथा अन्य मानवीय व्यवहारों तथा संस्थाओं की व्याख्या करने में कठिनाई होती है और यदि ईश्वर को अस्वीकार करके केवल विज्ञानसम्मत सिद्धान्तों के आधार पर मानव जीवन के विभिन्न क्रिया-कलापों, लक्ष्यों एवं आदर्शों की कल्पना की जाए तो सब कुछ अत्यन्त स्पष्ट ठंग से किया जा सकता है। संक्षेप में ईश्वर को मान लेने से सहज रूप में मानवीय जीवन जीना कठिन हो जाता है और ईश्वर को अस्वीकार करने से वह अत्यन्त सरल हो जाता है।

इस प्रकार विज्ञानसम्मत अनीश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर की सत्ता मान लेने के कारण मानव जीवन के सभी पक्ष उदाहरणार्थ-ज्ञान का स्वरूप, नैतिकता का स्वरूप, मानव जीवन के अर्थ एवं प्रयोजन इत्यादि

## 170 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

स्वयं मनुष्य के लिए रहस्यमय हो जाते हैं क्योंकि वे सब ईश्वरीय नियम से संचालित होते हैं और मनुष्य के लिए ईश्वरीय नियम को समझ पाना असम्भव है। इस प्रकार विश्वास जड़ता, मताग्रह तथा अंधविश्वास को जन्म देता है एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा मानव प्रगति में बाधा उत्पन्न करता है। अतः यदि मनुष्य को वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग पर चलना है तो उसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास का परित्याग करना चाहिए। वस्तुतः यह विश्वास न तो विज्ञानसम्मत है और न ही विज्ञान को प्रश्रय देता है। वैज्ञानिक ज्ञान में सब कुछ पारदर्शी होता है इसलिए उसमें जड़ता और अंधविश्वास की सारी संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। वैज्ञानिक सत्य की सार्वभौमिकता के फलस्वरूप उस पर आधारित समाज में शोषण की सम्भावना भी नहीं रह जाती, क्योंकि ज्ञान के ऊपर किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का विशेषाधिकार नहीं होता। एम०एन० राय जैसे मार्क्सवादी-मानववादी विचारकों के लिए ईश्वर के न होने का अर्थ यही है।

इसके विपरीत जब हम अस्तित्ववादी-अनीश्वरवाद पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी-मानववादी दार्शनिक के लिए ईश्वर के न होने का अर्थ कुछ दूसरा ही है। उसके अनुसार ईश्वर के न होने का अर्थ यह है कि मनुष्य सम्पूर्ण रूप से अपने जीवन तथा उससे सम्बद्ध समस्त मूल्यों एवं आदर्शों के लिए उत्तरदायी हो जाता है। सार्त्र के अनुसार ऐसा जीवन सरल और सहज न होकर अत्यन्त कठिन और असहज होता है, क्योंकि सामान्यतया अपने उत्तरदायित्व को ईमानदारी से स्वीकार करना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता है। सार्त्र की मान्यता है कि ईश्वर के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि यह प्रश्न की मानव जीवन के लिए ईश्वर का अस्तित्व प्रासंगिक है अथवा नहीं। सार्त्र कहता है कि यदि ईश्वर की सत्ता होगी तो भी वह मानव जीवन का नियंत्रण नहीं कर सकती, क्योंकि मनुष्य एक चेतना सत्ता है जिस पर स्वयं उसी का अधिकार है। जिस प्रकार एक ग्रंथ के लेखक का ग्रंथ को लिख देने के बाद ग्रंथ के अर्थ पर उसका अधिकार नहीं रह जाता, उसी प्रकार यदि मान भी लिया जाय कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है तो ईश्वर का मनुष्य के जीवन के अर्थ पर कोई अधिकार नहीं रह जाता, क्योंकि स्वयं मनुष्य ही अपने जीवन का अर्थ निर्धारित करता है। सार्त्र के अनुसार ईश्वर के न होने का यही महत्वपूर्ण अर्थ है। यह स्थिति जहाँ एक ओर मनुष्य को उसकी अपनी गरिमा का बोध करती है, वहीं यह बोध भी कराती है कि स्वयं मनुष्य ही अपने समस्त कार्यों के प्रति उत्तरदायी है।

इस प्रकार अनीश्वरवाद के अनुसार मनुष्य को अपने सभी प्रश्नों का उत्तर एवं समस्याओं का समाधान प्राकृतिक नियमों एवं सामाजिक सहयोग से स्वयं ही करना होगा क्योंकि ऐसे किसी ईश्वर का अस्तित्व नहीं है जो इस कार्य में उसकी सहायता कर सके। यह विचार मनुष्य को संसार

में स्वयं ही कष्टों तथा संकटों का सामना करने का सुदृढ़ साहस प्रदान करता है और उसे पराश्रित रहने की घातक मनोवृत्ति से बचाता है। सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए गौतम बुद्ध ने ईश्वर सम्बन्धी समस्त प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहकर मनुष्य को यह अविस्मरणीय महान उपदेश दिया था कि 'आत्म दीपो भव' अर्थात् तुम अपने दीपक स्वयं बनो और अपना मार्ग स्वयं खोजो।' वे इस मूल सत्य को भली-भाँति जानते थे कि दुःख निरोध अथवा दुःख निवृत्ति में मनुष्य की सहायता करने वाली किसी दैवी या अतिप्राकृतिक शक्ति का अस्तित्व नहीं है। इस स्वावलम्बन की अभिप्रेरणा को मानव के व्यावहारिक जीवन के लिए निरीश्वरवाद का सर्वाधिक वांछनीय तथा श्रेयस्कर परिणाम माना जा सकता है।

पुनः अनीश्वरवाद ही मनुष्य को इस अपरिहार्य सत्य से अवगत कराता है कि व्यक्ति तथा समाज के कल्याण और उत्थान के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है। ईश्वर या किसी अन्य अप्रिकृतिक शक्ति को इसके लिए उत्तरदायी मानना पूर्णतः भ्रामक है। वस्तुतः अपने सुख-दुःख, तथा अपनी सफलता-असफलता के लिए स्वयं अपने आपको उत्तरदायी न मानकर ईश्वर को उत्तरदायी मान लेना आत्म प्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि मनुष्य इस संसार में सुख, सफलता और ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो इन सबके लिए उसे स्वयं ही कठोर परिश्रम करना होगा। किसी दैवी शक्ति की कृपा के द्वारा उसे इनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य को स्वयं अपनी तर्क बुद्धि द्वारा इस निर्णायक प्रश्न का उत्तर देना होगा कि वह मानव जाति के लिए सुख, समृद्धि तथा विकास का मार्ग चुनेगा अथवा दुःख, दरिद्रता और विनाश का। कोई बाहरी शक्ति जीवन और मरण से सम्बन्धित इस प्रश्न का उत्तर देने में उसकी सहायता नहीं कर सकती।

इस दृष्टि से मनुष्य निश्चय ही इस संसार में अकेला है और उसे मानव-जाति के अतिरिक्त किसी दैवी शक्ति का अवलम्बन उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि बहुत से विचारक जिनमें ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी दोनों ही सम्मिलित हैं, स्वावलम्बन के इस जीवन दर्शन को अवसाद और निराशा से परिपूर्ण दर्शन मानते हैं। उनका कथन है कि इस जीवन दर्शन को स्वीकार करने के फलस्वरूप मनुष्य नितान्त एकाकी तथा निराधार हो जाता है और उसका जीवन उदासी एवं निराशा से घिर जाता है।

किन्तु उपर्युक्त आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कल्पित और मिथ्या आधार चाह कितना ही सुखद क्यों न हो, उस पर आश्रित रहना विवेकशील मनुष्य की गरिमा एवं तर्कबुद्धि के विरुद्ध है। कोई भी व्यक्ति आजीवन शिशु रहकर पराश्रित नहीं बना रह सकता; एक विशेष अवस्था में वयस्क होकर उसे आत्म निर्भर बनना ही पड़ता है। ठीक यही बात समस्त मानव जाति पर भी लागू होती है जो सदा किसी सुखद मिथ्या

## 172 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

आधार पर आश्रित नहीं रह सकती। उसे भी अब परिपक्व होकर अपनी इस शैशवकालीन परावलम्बिता को त्यागना पड़ेगा और स्वयं अपनी बौद्धिक शक्ति द्वारा काल्पनिक ईश्वर के इस भ्रम जाल से अपने आपको मुक्त करके अन्ततः स्वावलम्बी बनना होगा। मनुष्य को यह कठोर सत्य स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस ब्रह्माण्ड में अपना अस्तित्व बनाये रखने और अपने लिए सभी दृष्टियों से सुख तथा समृद्धि प्राप्त करने का अन्तिम उत्तरदायित्व स्वयं उसी का है; इसके लिए ईश्वर या किसी अन्य कल्पित दैवी शक्ति का सहारा लेना उसके विवेक एवं आत्म-गौरव के विरुद्ध एवं अनुपयुक्त है।

इस प्रकार यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि ईश्वर के अनस्तित्व सम्बन्धी मतों का उद्देश्य ईश्वर विषयक काल्पनिक विश्वास एवं मिथ्या अवलम्ब से मुक्त करके मानव जाति को प्रगति, विकास तथा कल्याण के यथोचित, विकर्ण एवं तर्कसंगत मार्ग पर अग्रसर करना है। अतः अनीश्वरवादियों की मान्यता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नहीं अपितु मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से भी ईश्वरवाद के स्थान पर विज्ञानसम्मत अनीश्वरवाद ही अधिक श्रेयस्कर एवं समीचीन प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो निश्चित रूप से उभर कर आती है वह यह है कि ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी दानों विचारधाराओं के दार्शनिकों के उद्देश्य तो एक ही हैं; मानव जीवन को गरिमापूर्ण बनाना तथा मनुष्य के भीतर निहित नैसर्गिक योग्यताओं का विकास करके उसे कल्याण की ओर प्रवृत्त करना। किन्तु इस लक्ष्य तक पहुँचने के सम्बन्ध में दोनों की दृष्टियाँ सर्वथा भिन्न हैं।

विकासवादी-विज्ञानवादी विचारधारा से प्रेरित दार्शनिक न केवल ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं अपितु उसके अस्तित्व को मानवीय गरिमा तथा सृजनशीलता में बाधक मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर की सत्ता में विश्वास मनुष्य को परावलम्बी बनाता है और उसके जीवन के समस्त क्रिया-कलापों तथा उद्देश्यों को पूर्व निर्धारित कर देता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को स्वयं किसी उपक्रम करने की न तो आवश्यकता है और न ही वह उसके लिए सक्षम है। इसलिए उनके अनुसार मनुष्य को प्रतिष्ठित करने के लिए ईश्वर को निष्कासित करना आवश्यक है।

अस्तित्ववादी विचारधारा के अनीश्वरवादी दार्शनिक दूसरी दृष्टि से ईश्वर की सत्ता को मानव जीवन के लिए अनावश्यक मानते हैं। संक्षेप में उनका तर्क यह है कि मनुष्य मूलतः एक स्वतंत्र सत्ता है और ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य के लिए सर्वथा अप्रासंगिक है। इसके अतिरिक्त उनका तर्क यह भी है कि ईश्वर की सत्ता एक तर्कतः असंगत अवधारणा है। यह अवधारणा मनुष्य के द्वारा ही कल्पित है। ईश्वर की अवधारणा ऐसी सत्ता की अवधारणा है जिसमें कि वस्तुत्व और चेतना की पूर्ण तदाकारता हो। यह तदाकारता असम्भव है और मनुष्य व्यर्थ में ही इसी तदाकारता को प्राप्त



करने की चेष्टा करता है। सार्त्र के अनुसार तदाकारता का यह लक्ष्य दूरास्था का परिणाम है।

हमारा विश्वास है कि विकासवादी—विज्ञानवादी विचारधारा जिन आधारों पर ईश्वर की सत्ता का निषेध करती है वे पर्याप्त आधार नहीं है। वस्तुतः यह वैज्ञानिक विचारधारा का एक दम्भ ही रहा है कि उसका ज्ञान सार्वभौमिक और सर्वसमावेशी है। आज विज्ञान का यह दम्भ खण्डित हो चुका है और यह समझा जा रहा है कि विज्ञान और धर्म दर्शन के क्षेत्र अलग—अलग हैं। दोनों के अपने विषय हैं और दोनों की अपनी पद्धतियाँ हैं। जो एक क्षेत्र में वैध है वह दूसरे क्षेत्र में आवश्यक रूप से वैध नहीं है। तात्पर्य यह है कि न तो विज्ञान को धर्म के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना चाहिए और न ही धर्म को विज्ञान के क्षेत्र में। सत्य का कोई एक और सार्वभौमिक प्रारूप सम्भव नहीं है। इसलिए वैज्ञानिक सत्य ही एकमात्र सत्य नहीं है और वही मानव जीवन के सभी पक्षों का नियामक नहीं माना जा सकता। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। विज्ञान भौतिक सत्ता के क्षेत्र में भी अन्तिम ज्ञान का दावा नहीं कर सकता इसलिए ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में उसके ज्ञान का दावा अपने आप अस्वीकार हो जाता है।

विज्ञानवादी—अनीश्वरवादियों तथा अस्तित्ववादी—अनीश्वरवादियों का यह तर्क कि ईश्वर की सत्ता को मान लेने से मनुष्य परावलम्बी हो जाता है, सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः यह आरोप इस विश्वास पर आधारित है कि मनुष्य की सत्ता और ईश्वर की सत्ता के बीच बहुत बड़ा अन्तराल है। इसलिए एक अन्तराल पर स्थित ईश्वर द्वारा संचालित मनुष्य का जीवन रहस्यमय, अतार्किक और न समझने योग्य हो जाता है। किन्तु हमारी दृष्टि में मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध की यह व्याख्या समीचीन नहीं है। मनुष्य और जगत् से भिन्न एक अतिक्रामी सत्ता के रूप में ईश्वर की अवधारणा एक बिन्दु तक स्वीकार की जाती है किन्तु इसे अन्तिम नहीं माना जा सकता। यदि हम अद्वैत वेदान्त के सन्दर्भ में देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि अतिक्रामी ईश्वर का विचार एक उपयोगी किन्तु अस्थायी सिद्धान्त है। ईश्वर वस्तुतः 'ब्रह्म' है और 'ब्रह्म' मनुष्य अथवा जगत् से भिन्न अतिक्रामी सत्ता नहीं है। मनुष्य स्वयं 'ब्रह्म' ही है। ईश्वर के रूप में ब्रह्म की अवधारणा ईश्वर सम्बन्धी सर्वोच्च एवं युक्तिसंगत अवधारणा है। इस रूप में ईश्वर को स्वीकार कर लेने से ईश्वरवाद के विरुद्ध वे सारी आपत्तियाँ निराकृत हो जाती हैं जो कि संदर्भगत विचारधाराओं और दार्शनिकों के द्वारा उठायी गयी हैं। इसके अतिरिक्त यदि हम सार्त्र के अस्तित्ववाद पर विचार करें तो हम यह देखते हैं कि ईश्वर सम्बन्धी विश्वास का परित्याग करना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। मनुष्य वस्तुतः ईश्वरत्व को प्राप्त करना चाहता है। इसी से उसकी सत्ता में अंतर्निहित शून्यता दूर हो सकती है। यह अन्य बात है कि सार्त्र के

## 174 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

लिए यह प्राप्त होना सम्भव नहीं है और यही उसके दर्शन की विडम्बना है कि वह ईश्वरत्व के आदर्श को न तो प्राप्त कर सकता है और न ही उसका परित्याग कर सकता है।

अतएव हमारी दृष्टि में एम0एन0 राय जैसे विकासवादी वैज्ञानिक विचारधारा के दार्शनिकों की तुलना में अस्तित्ववादी सार्त्र की दार्शनिक दृष्टि अधिक विकसित है। एम0एन0 राय मनुष्य की सत्ता को उसी रूप में व्याख्यायित करना चाहते हैं जैसे कि अन्य प्राणियों तथा भौतिक पदार्थों की सत्ता व्याख्यायित हो सकती है। राय यह मानते हैं कि मनुष्य की सत्ता पूर्णरूपेण वैज्ञानिक और तार्किक नियमों द्वारा संचालित होती है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास ऐसा नहीं होने देती इसलिए कि वह स्वयं अतार्किक और अवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। राय की तुलना में मनुष्य की सत्ता के सम्बन्ध में सार्त्र की समझ अधिक दार्शनिक है। सार्त्र यह स्वीकार करता है कि मनुष्य की सत्ता वस्तुओं की सत्ता से भिन्न है। वस्तुओं की सत्ता और स्वरूप के सम्बन्ध में सब कुछ निश्चित है। उनके स्वभाव, गुण, प्रयोजन इत्यादि पूर्वनिर्धारित है। मनुष्य की सत्ता स्वतंत्र सत्ता है। वह वैज्ञानिक तथा तार्किक नियमों द्वारा व्याख्यायित नहीं हो सकती। अनिश्चय, संदेह, अतार्किकता, रहस्यात्मकता इत्यादि मनुष्य की सत्ता को वस्तुओं की सत्ता से भिन्न करने के साथ-साथ उसे विशिष्टता और गौरव प्रदान करते हैं। यदि मनुष्य की सत्ता पूर्णतया तार्किक नियमों से संचालित होती तो वह ईश्वर बनने की कामना नहीं करता। ईश्वर बनने की कामना जहाँ एक ओर मनुष्य के जीवन में असफलता और हताशा की सूचक हैं वहीं मनुष्य की सृजनशीलता तथा निरन्तर स्वातिक्रमणशीलता की सूचक भी है। इसलिए यद्यपि सार्त्र के अनुसार मनुष्य के जीवन में ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है तथापि ईश्वर वह आदर्श है जो मनुष्य को अपनी सत्ता की नित्-नवीन संभावनाओं की तलाश के लिए प्रेरित करता है।

इस प्रकार यद्यपि सार्त्र प्रत्यक्षतः ईश्वर की सत्ता को मनुष्य के लिए अनावश्यक मानता है तथापि उसके दर्शन में ईश्वर की सत्ता का मनुष्य के जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान भी है। सार्त्र के अनुसार—मनुष्य ईश्वर बनने का असंभव और असफल प्रयास करता है। इससे उसके जीवन में निराशा का सम्प्रवेश होता है। सार्त्र के अस्तित्ववादी चिंतन का यह एक अनिवार्य और तार्किक निष्कर्ष है। जिन सांस्कृतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में सार्त्र के दर्शन का विकास हुआ है उसमें इसी निष्कर्ष की आशा भी की जा सकती है। किन्तु हमारा विश्वास है कि सार्त्र का यह निष्कर्ष सर्वथा युक्तिसंगत नहीं है। सार्त्र के मन में ईसाईयत संबंधी ईश्वर की अवधारणा थी। किन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में अन्य अवधारणायें भी हैं। यहाँ हम अद्वैत वेदान्त की ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा का उल्लेख कर सकते हैं। वेदांतवादी—ईश्वरवाद, अन्य शब्दों में शंकराचार्य का ईश्वरवाद हमें उन निष्कर्षों की ओर नहीं ले जाता जिनका विवेचन हम एम0एन0 राय तथा

सार्त्र के दर्शनों में कर चुके हैं। वेदांत का ईश्वर मनुष्य की ही सत्ता को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्थापित करता है। ईश्वर की ऐसी सत्ता मनुष्य को किसी अज्ञात और रहस्यमय सिद्धान्त से संचालित नहीं मानती जैसा कि एम०एन० राय का आरोप है। 'आत्मा ही ब्रह्म है'—यह कथन मनुष्य और ईश्वर के बीच के अन्तराल को तो समाप्त करता ही है, ब्रह्म को अनुभवगत सत्ता के रूप में स्थापित भी करता है। इसलिए जो अनुभवगत है और जो सबके लिए अनुभवगत है (सर्वानुभूः) वह अज्ञात, अतार्किक और रहस्यात्मक कदापि नहीं है। इसी नाते यह आरोप भी आधारहीन है कि ईश्वर की सत्ता मनुष्य को परावलम्बी और परोपजीवी बनाती है। वस्तुतः वेदांतवादी ईश्वर का सिद्धान्त, स्वावलम्बन और स्वतंत्रता का सर्वोच्च सिद्धान्त है। यदि ईश्वर सम्बन्धी इस अवधारणा से सार्त्र का भी परिचय रहा होता तो वह यह कदापि नहीं कहता कि ईश्वर प्राप्ति की कामना एक असम्भव कामना है और यह कामना मनुष्य की सत्ता को चिन्ताग्रस्त बनाने का कारण है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि अनीश्वरवादी विचारधारा के दार्शनिकों ने मनुष्य की सत्ता का गहन विश्लेषण अवश्य प्रस्तुत किया है और उनका मन में इस बात की चिन्ता भी है कि मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप में स्थापित हो सके किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरवाद के विरुद्ध उनकी युक्तियाँ ईश्वर की एक निश्चित अवधारणा के ऊपर आधारित हैं और इसलिए वे स्वीकार्य नहीं हैं। मनुष्य के जीवन में ईश्वर के स्थान को भी ये विचारधाराएँ ठीक-ठीक से नहीं समझ सकी। मनुष्य का जीवन केवल वैज्ञानिक सिद्धान्तों से नहीं चलता जैसा कि एम०एन० राय मानते हैं और ईश्वर की सत्ता अनिवार्यतः असफलता और निराशा का कारण नहीं है; जैसा कि सार्त्र मानता है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने के वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न भी आधार है और उन आधारों का सरलता से निराकरण नहीं किया जा सकता। मनुष्य केवल वैज्ञानिक धरातल पर ही जीवन व्यतीत नहीं करता, जीवन के अन्य पहलू भी होते हैं और उनकी अपनी आवश्यकताएँ भी होती हैं। ईश्वर की सत्ता में विश्वास मनुष्य के जीवन के महत्वपूर्ण पक्ष से अनिवार्य रूप से जुड़ा होता है, जिससे किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त से दूर नहीं किया जा सकता। एम०एन० राय जैसे दार्शनिकों ने मनुष्य के जीवन की इस जटिलता को नहीं समझा। वे मानव जीवन को एक सपाट सत्ता के रूप में स्वीकार करके उसे वैज्ञानिक नियमों के अधीन करना चाहते हैं। ऐसा करना मानव जीवन की जटिलता की अवहेलना करना है। सार्त्र मानव जीवन की जटिलता को तो समझता है किन्तु मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध को ठीक-ठीक न समझ पाने के नाते वह ईश्वर की सत्ता को मनुष्य के जीवन के लिए अनावश्यक मान लेता है। इस प्रकार अपनी सारी विश्लेषणात्मक विलक्षणता के बावजूद अनीश्वरवादी विचारधाराएँ मनुष्य के जीवन में ईश्वर के स्थान एवं महत्व का ठीक-ठीक निरूपण करने में असमर्थ रही हैं।

## सन्दर्भ ग्रन्थ – सूची

1. मेटाफिजिक्स: अरस्तू, सं० एवं अनु० जॉन वारिंगटन, एवरी मैन्स लाइब्रेरी, न्यूयार्क।
2. निकोमेकियन एथिक्स : अरस्तू
3. सम्मा थियॉलॉजिका : थामस एक्वीनास, अनु० एन्टन सी० पेगिस, रेण्डम हाउस, न्यूयार्क 1948
4. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन : थियोडोर एम० लुडविंग
5. मेडिटेशन्स : देकार्त, 1641
6. चिद्-बिन्दु विद्या : लाइवनिट्ज, उ०प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ
7. ह्यूमन नेचर : ह्यूम
8. क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन : काण्ट, अनु० एन०के० स्मिथ मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लंदन 1929, रिप्रिण्ट 1970
9. क्रिटीक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन : काण्ट, अनु०-लेविस ह्वाइट बीक
10. प्रोलेगोमेना टू फ्यूचर मेटाफिजिक्स : काण्ट
11. प्रोस्लोजियन : संत एन्सेल्म
12. गॉड एण्ड रीजन : सं०-मिलन, एलेन एण्ड अनविन, लंदन
13. मेटाफिजिक्स : रिचर्ड टेलर ईंगलवुड क्लिफ्स एन०जे० प्रेंटिस हाल इंक 1963
14. ए मार्डन इण्ट्रोडक्शन टू फिलॉसॉफी : पी० एडवर्ड एण्ड पैप फ्री प्रेस ऑफ ग्लेन्को, इंक 1965 न्यूयार्क
15. एक ईश्वर : डा० भूपेन्द्र कुमार मोदी, भारतीय ज्ञान पीठ संस्करण-1999, नई दिल्ली।
16. लैंग्वेज ट्रूथ एण्ड लाजिक : ए०जे० एयर, विक्टर गोलेन्ज लि० 1946, लंदन
17. न्याय कुसुमाञ्जलि : आचार्य उदयन, चौ०वि०, वाराणसी
18. ए डीवेट आन एग्जिस्टेन्स ऑफ गॉड : रसेल एण्ड कोपल्सटन एलेन एण्ड अनविन, लंदन
19. दिन राइज ऑफ साइण्टिफिक फिलॉसॉफी : राइकेनबाक यूनिवर्सिटी आफ कैलीफोर्निया प्रेस 1951
20. नेचुरल थियालाजी : विलियम पैली
21. डज गॉड एग्जिस्ट : ए०ई० टेलर मैकमिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क 1945
22. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स : एफ०आर० टेनेण्ट

23. श्री एसेज ऑन नेचुरल रिलिजन : जे0एस0 मिल लांगमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी लि0 1865, लंदन
24. गॉड इन माडर्न फिलॉसॉफी : कालिन्स यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस
25. द थियरी आफ गुड एण्ड ईविल : रैशडल
26. फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन : जॉन हिक इंगलवुड क्लिफ्स एन0जे0 प्रेंटिस हाल इंक 1962
27. द एग्जिस्टेन्स ऑफ गॉड : जॉन हिक मैकमिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क 1964
28. सलैक्शन्स : काण्ट, सम्पादक, ग्रीन
29. दि टू सोर्स ऑफ मोरैलिटी एण्ड रिलिजन : हेनरी वर्गसाँ मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लंदन
30. मिस्टीसिज्म एण्ड फिलॉसाफी : डब्लू0टी0 स्टेस जे0वी0 लिपिनकाट कम्पनी फिलाडेल्फिया
31. डिस्कोर्स ऑन मेथडद्व पार्ट । : डेकार्ट, अनु0 हाल्डेन एण्ड रॉस, कौम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1637
32. न्यू स्टडीज इन द फिलॉसॉफी ऑफ डेकार्ट : एन0के0 स्मिथ मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लंदन 1963
33. दि फिलॉसॉफी ऑफ स्पिनोजा : वुल्फसन कौम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1934
34. लाइवनिट्ज : एच0 डब्लू0 कर्र अर्नेस्ट वर्न लंदन 1929
35. ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी : फ्रैंक थली सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाइस इलाहाबाद 1985
36. ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी : सं0 डी0जी0ओ0 कोनर द फ्री प्रेस ऑफ ग्लेन्साथ, लंदन 1964
37. प्राब्लेम्स ऑफ डेथ इपिस्टिमोलॉजी : संगम लाल पाण्डेय कौल लाइब्रेरी, ऑफ फिलॉसाफी यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद 1987
38. दि डिवाइन इम्परेटिव : एमिल ब्रुनर
39. 'दि डाक्ट्रिन ऑफ दि वर्ड ऑफ गाड' : कार्ल वार्थ
40. दि नेचर एण्ड डेस्टिनी ऑफ मैन : रीनोल्ड नीवुर
41. ऑन दि ओरिजिन ऑफ स्पीशीज : चार्ल्स डार्विन डी0 एप्पल्टन एण्ड कम्पनी 1859
42. दि डिसेण्ट ऑफ मैन : चार्ल्स डार्विन डी0 एप्पल्टन एण्ड कम्पनी 1871
43. ऑन रिलिजन : मार्क्स एण्ड ऐंगल्स प्रोग्रेस पब्लिकेशन्स, मास्का
44. ए कंट्रिव्यूशन टू दि क्रिटिक ऑफ पालिटिकल इकानामी : कार्ल मार्क्स, अनु0एन0आई0 स्टोन, इण्टरनेशनल पब्लिशर्स न्यूयार्क 1967

## 178 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

45. कार्ल मार्क्स—दि स्टोरी आफ हिज लाइफ : फ्राज मेहरिंग अनु० एडवर्ड फिटजैराल्ड
46. मैटीरियलिज्म : एम०एन० राय रेनॉसॉ पब्लिशर्स लि०—1951
47. रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन : एम०एन० राय रेनॉसॉ पब्लिशर्स लि० 1952
48. न्यू ह्यूमेनिज्म : एम०एन० राय अजंता पब्लिकेशंस रिप्रिण्ट—1990
49. फिनामिलॉलॉजी : राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर
50. वीइंग एण्ड टाइम : हाइडेगर; अनु०—जॉन मेक्वायरी एण्ड एडवर्ड राविन्सन, हारपर एण्ड रॉ, न्यूयार्क 1962
52. अस्तित्ववाद और मानववाद : सार्त्र अनु० जवरीमल्ल पारख, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली 1997
53. वीइंग एण्ड नथिंगनेस : ज्यॉ पाल सार्त्र
54. समकालीन भारतीय दर्शन : डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ० सभाजीत मिश्र, उ०प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1974
55. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक : डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ० सभाजीत मिश्र म०प्र० हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल
56. समकालीन पाश्चात्य दर्शन : डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना एवं डॉ० सभाजीत मिश्र, उ०प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ
57. दार्शनिक विश्लेषण परिचय : जान हास्पर्स अनु० गोवर्धन भट्ट बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना
58. विल टू पावर : नीत्शे
59. दस स्पोक जरथ्रुस्त्रा : नीत्शे
60. इदर/ऑर : किर्गेगार्ड
61. फ्राम रेशनलिज्म टू एग्जिस्टेंशियलिज्म : आर०सी० सलोमन हारपर एण्ड रॉ, पब्लिशर्स 1972
62. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग—1 एवं 2 : प्रो० दयाकृष्ण राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर
63. हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी बट्रेण्ड रसल
64. भारतीय दर्शन भाग 1 एवं 2 : डॉ० राधाकृष्णन राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली
65. हिस्ट्री ऑफ फिलॉसॉफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न : डॉ० राधाकृष्णन, राज्यपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली
66. भारतीय दर्शन : डॉ० एन०के० देवराज उ०प्र० हि०सं० लखनऊ ।
67. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं : प्रो०वी०पी० वर्मा हि०मा०का०नि० दिल्ली विश्वविद्यालय
68. भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद : प्रो०वी०पी० वर्मा अलाइड पब्लिशर्स लि०

69. दर्शन विवेचना : प्रो०वी०पी० वर्मा हि०मा०का०नि० दिल्ली विश्वविद्यालय
  70. अधि-नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त : प्रो०वी०पी० वर्मा अलाइड पब्लिशर्स लि०
  71. नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त : प्रो०वी०पी० वर्मा अलाइड पब्लिशर्स लि०
  72. इण्डियन एथीइज्म : ए माक्सिस्ट एनालिसिस : देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय कलकत्ता 1969
  73. व्यस्त जीवन में ईश्वर की खोज : ओशो, रेबल पब्लिशिंग हाउस, पुणे 1999
  74. क्या ईश्वर मर गया है : आशो अंकुर पब्लिकेशन्स दिल्ली 1990
  75. ऋग्वेद संहिता : अजमेर वैदिक यंत्रालय वि०सं०-1983
  76. छान्दोग्य उपनिषद् : शांकरभाष्य गीता प्रेस, गोरखपुर
  77. बृहदारण्यक उपनिषद् : शांकरभाष्य गीता प्रेस, गोरखपुर
  78. कठ उपनिषद् : शांकरभाष्य गीता प्रेस, गोरखपुर
  79. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स : वैली पुसीन
  80. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स : वैली पुसीन
  81. कलेटिव वर्क्स : एफ० मैक्समूलर मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी
  82. बुद्ध चरित : अश्वघोष
  83. स्यादवाद मंजरी : मल्लीसेन सूरी
  84. षड् दर्शन-समुच्चय : हरिभद्र सूरी
  85. सांख्य सूत्र : कपिल
  86. सांख्य-प्रवचन-भाष्य : विज्ञान भिक्षु
  87. सांख्य-कारिका : ईश्वर कृष्ण निर्नया सागर, बम्बई 1940
  88. श्लोक वार्तिक : कुमारिल भट्ट, अनु०ए०सं० गंगानाथ झाँ, बड़ौदा 1933
  89. बृहत् (शाबर भाष्य टीका) : प्रभाकर मिश्र; सं०-रामनाथ शास्त्री मद्रास वि०वि० 1934-35
  90. प्रकरण पंचिका : शालिक नाथ मिश्र; सं०-मुकुन्द शास्त्री चौखम्भा, वाराणसी
  91. अर्थ संग्रह : लौगाच्छि भाष्कर; सं०ए०वी० गजेन्द्रगडकर एवं आर०डी० करमरकर, पूरा 1932
  92. सर्वदर्शन संग्रह (हिन्दी) : प्रो० रमाशंकर शर्मा-'ऋषि' विद्या भवन चौखम्भा, वाराणसी, पंचम संस्करण-1997
- पत्र-पत्रिकाएँ**
1. दार्शनिक त्रममासिक : प्रधान सं०-एन०के० देवराज अ०भा०द०प०, वर्ष 24 अंक 2, अप्रैल 1978

## 180 | ईश्वरवाद बनाम अनीश्वरवाद

2. उन्मीलन : सं०—यशदेव शल्य दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर वर्ष 1, अंक—1, अगस्त 1985
3. परामर्श : पूर्ण विश्वविद्यालय प्रकाशन खण्ड—7, भाग एक, दिसम्बर 1985
4. संदर्शन : सं०—प्रो० डी०एन० द्विवेदी एवं प्रो० सभाजीत मिश्र उ०भा०द०प०, इलाहाबाद, भाग 23, 1998
5. इण्डियन फिलॉसॉफिकल क्वार्टरली : दर्शन विभाग, पूणे विश्वविद्यालय भाग XXVI, अक्टूबर 1999
6. जर्नल ऑफ इण्डियन काउन्सिल ऑफ फिलॉसॉफिकल रिसर्च : सं०डी०पी० चट्टापाध्याय एवं प्रो० दयाकृष्ण जून 1996, दिल्ली
7. अखण्ड—ज्योति : सं०डा० प्रणव पाण्ड्या, स्वामी प्रकाशक
8. कल्याण : गीता प्रेस, गोरखपुर
9. फिलॉसॉफी टूडे : वाल्यूम 45, 2001
10. जर्नल ऑफ कान्सासनेस स्टडीज : वाल्यूम 8 नं०—12, दिसम्बर 2001 यू०के० एण्ड यू०एस०ए०
11. मेटाफिलॉसॉफी : वाल्यूम 32, नं०—4 जुलाई 2001 ब्लैक वेल पब्लिशर्स
12. द फिलॉसॉफिकल फोरम : ए क्वार्टरली : वाल्यूम XXVII, नं०—4 विन्टर 2001, डिपार्टमेन्ट ऑफ फिलॉसॉफी ऑफ बरुच कालेज, यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क
13. फिलॉसॉफी : वाल्यूम 76 नं०—279 जुलाई 2001 कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस
14. माइण्ड : वाल्यूम 110, नं०—439 जुलाई 2001